धम्मपदम्

[हिन्दी अनुवाद, व्याख्यात्मक टिप्पणी, समीक्षात्मक भूमिका सहितम्]

सम्पादक एवं अनुवादक—

प्रो० सत्यप्रकाश शर्मा,

एम० ए०, साहित्याचार्य, साहित्यरत्न

संस्कृत विभाग

नेहरू मेमोरियल शिवनारायणदास कालेज बदायूं ।

प्रकाशक :

रतिराम शास्त्री

साहित्य भण्डार, सुभाष बाजार, मेरठ ।

मूल्य ४ रुपये

प्रकाशक
रतिराम शास्त्री
अध्यक्ष
साहित्य भण्डार, सभाष बाजार, मेरठ

प्रथम संस्करण जौलाई, १९७२

मूल्य : चार रुपये मात्र

मुद्रक
नवोदित प्रिटिङ्ग प्रैस,
११९, तोपचीवाडा, मेरठ

समर्पण

पूज्य गुरुवर

डॉ० परमानन्द शास्त्री

रीडर, संस्कृत विभाग,

अलीगढ़ विश्वविद्यालय

के

कर कमलों में

सादर समर्पित।

"त्वदीय वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये"

सत्य।

आत्म-निवेदन

तथागत के मौखिक उपदेशों का सकलन जो आज से लगभग दो हजार वर्ष पूर्व ही 'धम्मपद' के नाम से बौद्ध भिक्षुओं ने कर लिया था, उसी का हिन्दी अनुवाद आपके हाथों मे है। यद्यपि इससे पूर्व भी हिन्दी अनुवाद के साथ इसके कई सस्करण प्रकाशित होचुके है फिर भी मेरे इस प्रयास के दो मुख्य कारण हैं एक तो प्राचीन सस्करण सामान्य पाठको के लिये दुष्प्राप्य हो गये हैं और दूसरे उनमे अनुवाद मात्र देकर काम चलता किया है। अब, जबकि यह ग्रन्थ एम ए, शास्त्री जैसी उच्च कक्षाओ के पाठ्यक्रम मे अनेक विश्वविद्यालयो द्वारा निर्धारित किया गया है तो एक ऐसे सस्करण की परम आवश्यकता थी जो विद्यार्थी और अध्यापक दोनो ही की कठिनाइयो को दूर कर सके। बस इन्ही उद्देश्यो की पूर्ति के लिये मेरा यह प्रयास है। इस हिन्दी अनुवाद के तैयार करने मे निम्नलिखित सस्करणो का उपयोग किया है, जिसके लिये मै तत्तत सस्करणो के सम्पादको और प्रकाशको का हृदय से आभारी हू।

(१) धम्मपद, हिन्दी अनुवाद एव सस्कृतच्छाया सहित,
(सम्पा०—महापण्डित राहुल सांकृत्यायन)

(२) धम्मपद हिन्दी अनुवाद एव सस्कृतच्छाया सहित,
(सम्पा०—अवधकिशोर नारायण)

(३) धम्मपद के मराठी एव बगला अनुवाद,
(महाबोधिसभा, सारनाथ द्वारा प्रकाशित)

(४) धम्मपद, हिन्दी अनुवाद एव सस्कृतच्छाया सहित
(सम्पा०—कनछेदीलाल गुप्त एव सत्कारि शर्मा वगीय, चौखम्बा सस्करण)

(५) धम्मपद अग्रेजी अनुवाद
(डॉ० पा० एल० वैद्य ओरियन्टल बुक एजेन्सी पूना)

(६) Sacred Books of the East सीरीज की १० वी जिल्द मे मैक्सम्यूलर कृत अग्रेजी अनुवाद एव टिप्पणी
(मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी)

मूलपाठ तथा पाठभेद के निर्धारण मे
(आदरणीय डॉ० रघुनाथ पाण्डेय)

व्याकरण, पालिशास्त्राचार्य, (पी० एच० डी०, अलीगढ़ विश्वविद्यालय से विशेष सहायता प्राप्त हुई है) एतदर्थ मैं उनका चिरकृतज्ञ हूं। निम्नलिखित संस्करणों के सम्पादकों एवं प्रकाशकों के प्रति भी कृतज्ञता ज्ञापित करना अपना पुनीत कर्तव्य समझता हूं।

१. धम्मपदट्ठकथा (सिंहली संस्करण),
हेवविततरणे बिक्वेस्ट सीरीज में कोलम्बो से प्रकाशित।
२ धम्मपद (स्यामी) महामकुट राजविद्यालय संस्करण।
३. धम्मपदट्ठकथा—ब्रह्मदेशीय छट्ठ सगायन संस्करण।
४. भिक्षुधर्मरक्षित सम्पादित अट्ठकथा के साराश सहित धम्मपद।
५. खुद्दकनिकाय ग्रन्थ में नवनालन्दा महाविहार द्वारा प्रकाशित।

भूमिका लेखन मे तीन ग्रन्थों मे प्रत्यक्ष रूपेण सहायता ली गई है—

(क) पालि साहित्य का इतिहास	(श्री भरतसिंह उपाध्याय)
(ख) पालि साहित्य का इतिहास	(राहुल सांकृत्यायन)
(ग) पुरातत्व निबन्धावली	(राहुल सांकृत्यायन)

मैं इन दोनों विद्वानों के प्रति नतमस्तक हो, आभार स्वीकार करता हूं।

पूज्य गुरुवर डॉ० रमेशचन्द्र शुक्ल एवं श्रद्धेय प० रामस्वरूप जी शास्त्री की मेरे ऊपर विशेष अनुकम्पा रही है। उनका महान् ऋण मैं कैसे चुकता कर सकता हूं?

सुहृद्वर्य्य प्रो० कृष्णकान्त जी शुक्ल, बरेली कालिज बरेली के अनन्य सहयोग से ही प्रस्तुत संस्करण संस्कृतवाङ्मय के साहसी प्रकाशक श्रद्धेय प० रतिराम जी शास्त्री द्वारा हो सका है। एतदर्थ, इन महानुभावों के प्रति कृतज्ञ हूं।

अन्त मे विज्ञ पाठकों से निवेदन है कि पुस्तक के सम्बन्ध मे अपने अमूल्य सुझाव अवश्य भेजने का कष्ट करें।

बदायूं
२६ मार्च, ७१

विदुषामाश्रवः
सत्यप्रकाश शर्मा

शुभाशंसा

प्रो० रामस्वरूप शास्त्री,
भूतपूर्व अध्यक्ष, हिन्दी-संस्कृतविभाग,
अलीगढ़ विश्वविद्यालय ।

भारती नगर, मैरिस रोड,
अलीगढ़ ।

पालिभाषा के अमूल्य ग्रन्थ 'धम्मपद' का श्री सत्यप्रकाश शर्मा द्वारा प्रणीत हिन्दी अनुवाद मैंने पूर्णता से देखा । उसके अनेक प्रकरणों को पढ़ा । अनुवाद की शैली सरल और विषयानुकूल है । प्रत्येक पालि शब्द का हिन्दी पर्याय, विशेष टिप्पणियों के साथ तुलनात्मक अध्ययन, विस्तृत भूमिका तथा परिशिष्ट में संस्कृतच्छाया सभी कुछ परिमार्जित साहित्यिक भाषा में प्रौढ़ता के साथ निबद्ध है । यह अनुवाद अध्यापक तथा अध्येतृ वर्ग के लिये परम उपयोगी सिद्ध होगा । इस कार्य के हेतु श्री शर्मा जी को शतशः धन्यवाद ।

—रामस्वरूप शास्त्री

विषय-सूची

नमो तस्स भगवतो अरहतो सम्मासम्बुद्धस्स ।

विषय-प्रवेश

तथागत : एक परिचय

ईसा पूर्व छठी शताब्दी में भारत के मानचित्र पर उत्तरी बिहार मे शाक्य-गण नामक एक जनपद था जिसकी राजधानी कपिलवस्तु थी। यहा के गणराजा का नाम शुद्धोदन और महिषी का नाम माया था। कहा जाता है, गर्भावस्था में महिषी माया अपने मायके जा रही थीं। लुम्बिनी कानन मे पहुचने पर प्रसव पीड़ा हुई और वहीं एक बालक को जन्म दिया।[1] बालक का नाम कुमार सिद्धार्थ रखा गया जो आगे चलकर अपने गोत्र के कारण 'गौतम' और बुद्धत्व लाभ करने के उपरान्त 'बुद्ध' नाम से इस अवनि पर विख्यात हुआ। जन्म के एक सप्ताह बाद ही नवजात शिशु मातृ स्नेह से वंचित हो गया, महिषी माया यह लोक छोड़ परलोक चली गई। मा के अभाव मे बालक का लालन-पालन महिषी की बहिन महाप्रजावती गौतमी ने किया।

युवा होने पर कुमार सिद्धार्थ का विवाह यशोधरा के साथ सम्पन्न हुआ। कुमार का वैवाहिक जीवन बड़ ऐश्वर्य और आनन्द के साथ व्यतीत होने लगा। कुछ समय बाद इस नवदम्पति के जीवन को एक नन्हे से मुन्ना ने जन्म लेकर प्रणय सुधा से सींच दिया। अब कुमार सिद्धार्थ को कमी ही किस बात की थी? अपने पिता के उत्तराधिकार के फलस्वरूप जनपद का राज्य, सुन्दरी पत्नी और पुत्र राहुल—सब कुछ तो था।

---

१. डा० उमेश मिश्र भारतीय दर्शन, पृ० १३४ पर यह दिनांक ५६३ ई० पू० वैशाख शुक्ल पूर्णिमा है। किन्तु बलदेव उपाध्याय ४४८ ई० पू० (५०५ वि० पू०) मे बुद्ध का जन्म मानते हैं। देखिये उनका ग्रन्थ भारतीय दर्शन, पृ० ११७।

कुमार सिद्धार्थ प्रारम्भ से ही बड़े विचारशील और उदासीन प्रकृति के थे जीवन के दु:खो, पशुबलि और हिंसात्मक अनुष्ठानो से इनके हृदय पर गहरी चोट पहुची थी। एक बार कुमार सिद्धार्थ नगर का अवलोकन करने के लिए निकले। राजा ने नगर को खूब सजवाया और इस बात का भी पूरा-पूरा ध्यान रखा गया कि कुमार के सामने ऐसा कोई दृश्य न आने पावे जिससे उसकी विरति को प्रश्रय मिले। किन्तु होनहार बलवान् होती है। मार्ग मे एक बीमार व्यक्ति दीख पड़ा जो असाध्य वेदना के कारण भूमि पर पड़ा हुआ तड़प रहा था। कुमार का मृदुल हृदय करुणार्द्र हो उठा और वह सारथि से पूछ बैठा कि इस व्यक्ति की ऐसी हालत क्यो है? प्राज्ञ सारथि ने शाश्वत सत्य का उद्घाटन कर दिया। उसने कहा रोग ससार मे प्रत्येक व्यक्ति को अपना शिकार बनाता है। कुमार की मन-प्रवृति बदली। सारथि को घर वापिस चलने का आदेश हुआ। जब यह बात राजा को मालूम हुई तो उन्हें बड़ी निराशा हुई। वह अपने पुत्र को शक्तिशाली सम्राट देखना चाहता था। अत कुमार को सासारिक विषयो मे फसाने के लिए दो और प्रयत्न किय गये। दूसरी बार अस्थि-पञ्जरमात्र जराक्रान्त व्यक्ति और तीसरी बार रोते बिलखत अपने सगे सम्बन्धियो द्वारा दाह सस्कार के निमित्त ले जाया जाता हुआ शव। सासारिक कष्टो की कल्पनामात्र से ही कुमार विचलित हो उठा। सारथि के शब्दो ने गुरुमन्त्र का काम दिया। अन्तत, एक दिन अधेरी रात मे सुख की नीद सोती हुई प्रियतमा और मा की छाती से चिपटे हुये अबोध बालक के अनुपम सौन्दर्य को एक बार देखकर दृढ निश्चय के साथ घर त्याग दिया। इस समय उनकी आयु उनतीस वर्ष की थी।[१]

इसके बाद लगभग सात वर्ष तक कुमार ज्ञान और सत्य की खोज मे इधर-उधर भटकता रहा। सर्वप्रथम कुमार 'आलार कालम' के यहा गया और क्या उत्तम है? ऐसा पूछने पर उत्तर प्राप्त हुआ 'अकिञ्चन्यायतन'। कुमार को सन्तुष्टि न हुई वह उद्रक रामपुत्र के पास पहुचा। उन्होने कुमार को 'नैवसज्ञाना सज्ञायतन' को ही उत्तम बताया। पर कुमार को इससे भी सन्तोष

१ एकूनतिसो वयसा सभद्द य पब्बजि कि कुसलानुएसि,
महापरिनिब्बान सुत्त २२१।

नहीं हुआ। अनेक हठयोगियों के चक्कर में पड कर उसने घोर तपस्याये की, शरीर को अनेक कष्टो से कृश बना दिया, पर उसे आत्मिक शान्ति न मिली। अन्तत उसने यह मार्ग छोड दिया।

अनेक प्रदेशो म भ्रमण करते करते कुमार मगध के उरुवेला सेनानी निगम मे जा पहुँचा। यहा के प्राकृतिक मनोरम दृश्यो को देखकर उसका चित्त प्रफुल्लित होगया। यहीं अन्य पाच भिक्षुओ से भी उसकी भेंट हुई। इन भिक्षुओ के साथ कुमार ने पुन कठोर तपस्या प्रारम्भ कर दी, फिर भी उसे परितोष न हुआ। अब उसे दृढ विश्वास हो गया कि जान बूझकर शरीर को कष्ट देने मात्र से निर्वाण प्राप्त नहीं हो सकता। अत यह मार्ग छोड अनशन समाप्त कर दिया। साथी पाचो भिक्षु उसे पथभ्रष्ट समझ छोडकर अन्यत्र चले गये। तपस्या के मार्ग से निराश अत्यन्त थका हुआ सिद्धार्थ एक दिन विशाल पीपल की सघन छाया मे बैठा हुआ था। शीतल, मन्द समीर बह रही थी। प्रकृति अनुकूल थी अत चित्त प्रसन्न था। अब उसने स्वस्थ मन से अपने अनुभवो पर विचार करना प्रारम्भ किया। सात दिन और सात रात तक वह एक ही आसन पर ध्यानस्थ बैठा रहा। अन्त मे उसे बोध हुआ, उसके अन्त-करण मे एक दिव्य ज्योति का प्रस्फुटन हुआ।

अब कुमार सिद्धार्थ महात्मा बुद्ध बन चुके थे। बोद्ध-प्राप्ति के बाद बुद्ध गया से काशी की ओर चल पडे। सारनाथ मे उन पाचों भिक्षुओ से भेंट हुई जो बुद्ध को उरुवेला मे पथभ्रष्ट समझ अकेला छोड आये थे। "बुद्ध ने कहा—भिक्षुओ! इधर सुनो। मैंने जिस अमृत को पाया है, उसका तुम्हे उपदेश करता हू उपदेशानुसार आचरण करने पर जिस उद्देश्य के लिये कुलपुत्र घर छोड कर प्रव्रजित होते हैं उस अनुत्तम ब्रह्मचर्य फल को इसी जन्म मे शीघ्र ही स्वय जानकर विचरोग। उन भिक्षुओ न उत्तर दिया—आवुस गौतम, उस साधना म, उस धारणा मे, उस कठिन तपस्या में भी तुम आर्यों के ज्ञानदर्शन की पराकाष्ठा की विशेषता तथा उत्तर मनुष्य धर्म को नहीं पा सके फिर अब बाहुलिक, साधना भ्रष्ट, बाहुल्यपरायण होते हुये तुम आर्य ज्ञान दर्शन की

पराकाष्ठा उत्तर मनुष्य धर्म को क्या पाओगे ? बुद्ध ने उन्हें विश्वास दिलाया और अपना उपदेश देते हुये पांच कामगुणों का व्याख्यान किया और उन्हें उनसे विरत रहते हुये सर्वप्रथम चार ध्यानों तथा क्रमश आकाशानन्त्यायतन, विज्ञानानन्त्यायतन, आकिञ्चन्यायतन तथा संज्ञा-वेदयित विरोध आदि को प्राप्त करते हुये प्रज्ञा द्वारा निर्वाण को प्राप्त करने के लिये कहा। इस प्रकार यहा पर बुद्ध का यह प्रथम उपदेश (धर्म चक्रप्रवर्तन) हुआ।"[१]

सारनाथ से चल कर महात्मा बुद्ध उरुवेला पहुँचे। एक हजार अग्निहोत्री ब्राह्मणों के नेता कश्यप ने वहा बौद्ध धर्म की दीक्षा ग्रहण की। तदनन्तर भगवान् बुद्ध राजगृह पहुचे। वहा मगध सम्राट श्रेणीय बिम्बसार ने भगवान् के दर्शन किये और उनके उपदेशों का श्रवण किया। यहीं भगवान् बुद्ध को दो मेधावी शिष्य सारिपुत्त और मोग्गलान मिले जिन्होंने बौद्ध धर्म के प्रसार में अद्‌भुद क्षमता का परिचय दिया, यद्यपि उनका प्रधान कार्यक्षेत्र मगध ही रहा, तथापि काशी, कौसल और वज्जि आदि जनपदों में भी पैदल घूम-घूम कर बुद्ध ने अपने सरल सिद्धान्तों का प्रचार किया। यही कारण है कि बुद्ध के जीवन काल में ही उनका सन्देश प्राय सम्पूर्ण उत्तरी भारत में दूर-दूर तक फैल गया था।

महात्मा बुद्ध ने बुद्धत्व प्राप्ति के बाद लगभग ४५ वर्षों तक आर्य मार्ग का प्रचार किया। अपने जीवन के अन्तिम वर्ष में वह राजगृह के गृध्रकूट पर्वत पर रहते थे। यहां से भगवान् ने अपनी अन्तिम यात्रा प्रारम्भ की। राजगृह से चलकर अम्बलट्ठिका पाटलिग्राम, कोटिग्राम, नादिका (नातृका) होते हुये वैशाली पहुचकर अम्बपाली गणिका के आम्रवन में ठहरे। दूसरे दिन गणिका ने उन्हें भोजन दिया और दक्षिणास्वरूप वह आराम भी बौद्ध-प्रमुख भिक्षुसंघ को प्रदान कर शिष्यात्व ग्रहण कर लिया।

वर्षा ऋतु आ चुकी थी। अतः तथागत ने भिक्षुओं को जगह-जगह वर्षावास करने का आदेश दिया। स्वयं वेलुवग्राम में ठहरे। यहां उन्हें पेचिश हो गयी, जो ५१६ दिनों बाद ठीक हो गयी। "भगवान् चापालचैत्य में आनन्द

१. राहुल: पालि साहित्य का इतिहास' पृ० ७१

के साथ विहरने गये। वहां उन्होंने आयु-संस्कार (जीवन शक्ति) छोड़ दी, भूचाल हुआ। भगवान् ने अपने देखे स्थानों को स्मरण करते हुए कहा—रमणीय है राजगृह का गौतमन्यग्रोध, चोरपपात, वैभार पर्वत की बगल में सप्तपर्णी गुहा ऋषिगिरि की बगल में कालशिला, शीतवन के सर्पशौण्डिक पहाड़, तपोदाराम, वेणुवन का कलन्दक-निवाप, जीवकाम्रवन, मद्रकुक्षि मृगदाव। इन इन स्थानों में भी, आनन्द, मैंने यह कहा था—आनन्द, जिसने चार ऋद्धिपाद साधे हैं, वह चाहे तो कल्पभर ठहर सकता है या कल्प के बचे काल तक। मैंने भी चार ऋद्धिपाद साधे हैं, यदि मैं चाहूं तो कल्पभर ठहर सकता हू या कल्प के बचे काल तक। यदि आनन्द, तुमने याचना की होती तो तथागत दो ही बार तुम्हारी बात को अस्वीकार करते, तीसरी बार स्वीकार कर लेते। इसलिए, आनन्द, यह तुम्हारा ही दुष्कृत है, तुम्हारा ही अपराध है।

आनन्द, क्या मैंने पहले ही नहीं कह दिया—सभी प्रियो से जुदाई, वियोग तथा अन्यथाभाव होता है। आनन्द, सो वह कहां मिल सकता है कि जो उत्पन्न भूत, संस्कृत तथा नाशवान् है, वह नष्ट न हो। यह सम्भव नहीं। आनन्द, जो यह तथागत ने जीवन संस्कार छोड़ा, त्यागा तथा प्रतिनिसृष्ट किया, तथागत ने बिल्कुल पक्की बात कही है। जल्दी ही आज से तीन मास बाद तथागत का परिनिर्वाण होगा। जीवन के लिए तथागत क्या फिर वमन किये को निगलेंगे? यह सम्भव नहीं। आओ, आनन्द, जहां महावन कूटागार शाला है, वहां चलें।"[१]

महावन कूटागारशाला में पहुंचकर भगवान् ने भिक्षुओं को उपदेश दिया और धर्म का व्याख्यान भी किया। इसके बाद वह भण्डग्राम, आम्रग्राम और जम्बूग्राम होते हुए भोगनगर में पहुंचे जहां आनन्द चैत्य में विहार करते हुए उन्होंने बुद्धोपदेश की चार कसौटियां बतायीं। पावा में चुन्दकर्मारपुत्र के यहां भोजन करने के बाद उन्हें पुनः पेचिश हो गयी। पावा से कुशीनारा के मार्ग में भगवान् ने भविष्यवाणी कि 'आज रात के पिछले पहर कुशीनारा के

१. राहुलः पालि साहित्य का इतिहास, पृ० ४१, ४२।

उपवर्त्तन नामक मल्लों के शालवन में युगल शालवृक्षों के बीच तथागत का परिनिर्वाण होगा।' साथ ही चुन्दक के प्रति अपशब्द आदि न कहने की भी आज्ञा दी। हिरण्यवती नदी के उस पार कुसीनारा के शालवन में 'सुभद्र' को भगवान् ने अपने अन्तिम समय में भिक्षु-दीक्षा दी। अन्त में बुद्ध ने उपस्थित सभी भिक्षुओं से कहा—भिक्षुओ! अब मैं कहता हूं, सारे संस्कार नाशवान् हैं, आलस्य छोड़कर जीवन लक्ष्य का सम्पादन करो। यही तथागत का अन्तिम वचन है।

४८३ ई० पू०[1] वैशाख की पूर्णिमा का दिन था। ८० वर्ष की आयु में तथागत निर्वाण को प्राप्त हो गये।[2] भिक्षु महाकाश्यप ने उनकी चिता प्रज्वलित की। द्रोण नामक किसी ब्राह्मण ने अजातशत्रु, लिच्छिवि कपिलवस्तु अल्लकप्प आदि राजाओं के दूतों के बीच भस्मावशिष्ट अस्थियां स्तूपों के निर्माणार्थ बांट दीं।

तथागत की शिक्षायें

तथागत करुणा की साक्षात् मूर्ति थे। उनका चरम लक्ष्य था नाना मत मतान्तरों के कारण समाज में फैली हुई विषमताओं और दुष्कृतियों को दूर कर सच्चे आर्य धर्म की प्रतिष्ठा कर प्राणीमात्र का आत्यन्तिक कल्याण। उन्होंने किसी नवीन धर्म का प्रतिपादन न कर केवल सनातन काल से चले आ रहे आर्य धर्म का ही प्रचार किया। इसीलिये अपने सिद्धान्तों के सम्बन्ध में वे बार-बार यही कहते थे—'एस धम्मो सनन्तनो' अर्थात् यही सनातन धर्म है।

उनका अपने धर्म के प्रचार का ढंग बड़ा ही सरल था। बिना किसी पूर्व पुरोगम के जहां भी किसी भिक्षु या जिज्ञासु ने प्रश्न किया, उसे उपदेश मिला। अधिकांश में उनके उपदेश पैदल चलते चलते मार्ग में या किसी विहार में

१ आचार्य बलदेव उपाध्याय के अनुसार ४२६ वि० पू०। देखिये उन भारतीय दर्शन, पृ० ११७।
२. 'असीतिको मे वयो वत्तति'—महापरिनिब्बानसुत्त ७७।

पदचारिका के समय होते थे। किसी उपासक के यहा भोजन करने के बाद भी उचित अवसर पर भगवान् श्रद्धालुओ को उपदेशामृत का पान कराते थे। उनके उपदेश वाक्यो मे अन्य धर्मावलम्बियो की आलोचना बडे मार्मिक शब्दो मे होती थी किन्तु कटुता के लिए अवकाश लेशमात्र भी न था। जीवन की गहन अनुभूतियो का उन्हे साक्षात्कार था। नारायण बनने से पूर्व वह 'नर' की स्थिति मे से गुजरे थे। अनेक जन्मो मे बोधिसत्व भाव को प्राप्त कर बुद्धत्व' तक पहुचे थे। यह उनके अनेक जन्मो के सतत प्रयत्नो का ही सत्परिणाम था। उन्होंने अपने इन्ही अनुभवों को जनसाधारण के समक्ष सीधे-साधे ढग से प्रस्तुत किया। वह आडम्बर से दूर थे। लोगो को अपनी ओर आकृष्ट करने के लिये जादू-टोने का सहारा उन्होन कदापि नही लिया।

ईश्वर के नाम पर यज्ञ मे की जाने वाली हिंसा के प्रबल प्रतिद्वन्द्वी उदारमना बुद्ध यज्ञ में विविध देवताओ का आह्वान निरर्थक समझते थे। एक स्थल पर उन्होंने वासेट्ठ को सुन्दर उदाहरण द्वारा समझाया है—वासेट्ठ ! यह अचिरावती नदी किनारे तक भरी हुई जा रही है। किसी आवश्यक कार्यवश कोई मनुष्य उस पार से इस पार आना चाहता है, पर वह समुचित उद्योग न कर उसी किनारे पर खडा-खडा यह प्रार्थना करे कि हे दूसरे किनारे, इसी पार आ जाओ। क्या इस प्रार्थना से वह किनारा उस पार चला जायेगा? इसी प्रकार—हे वासेट्ठ त्रयी विद्या सम्पन्न ब्राह्मण ब्राह्मणत्व के मूल गुणो को क्रिया रूप मे अपने आप मे न लाये और अब्राह्मणो के समान आचरण करे लेकिन मुख से प्रार्थना करे—मैं इन्द्र को बुलाता हू, मैं वरुण को बुलाता हू, तो क्या वे देवता उसके इस निमन्त्रण पर वहा आ जायेंगे ?[1]

अभिप्राय यह है कि तथागत की दृष्टि में केवल वेदपाठ, याज्ञिक अनुष्ठान, घोर तपस्या, नगीं रहना, जटा रखना आदि सवथा लाभहीन है। यह सब कुछ करने पर भी जब तक चरित्र शुद्ध नहीं हो जाता प्राणीमात्र मे समदृष्टि नही होती, तृष्णा शान्त नही होती, प्रमाद, लोभ, क्रोध तथा वाणी पर सयम

१ देखिये दीघनिकाय का तेविज्जसुत्त।

नहीं किया जाता तब तक अनुष्ठान, पूजा-पाठ सब व्यर्थ है। उनका दृढ़ विश्वास था निःश्रेयस् की प्राप्ति न तो अत्यन्त भोग विलास से और न अत्यन्त कठिन तपस्या से ही सम्भव है। इसीलिये भगवान् बुद्ध ने इन दो को हेय मानकर मध्यमा प्रतिपदा (मध्यम मार्ग) का उपदेश दिया था-"भिक्षुओ! इन दो चरम कोटियों का सेवन नहीं करना चाहिये—भोग-विलास में लिप्त रहना और शरीर को कष्ट देना। इन दो कोटियों का त्याग कर मैंने मध्यम मार्ग का उपदेश दिया है जो आंख देने वाला, ज्ञान कराने वाला, शान्ति प्रदान करने वाला है।" इस मध्यम प्रतिपदा के आठ अङ्ग हैं—सम्यक् दृष्टि, सम्यक् संकल्प, सम्यक् वचन, सम्यक् कर्म, सम्यक् आजीविका, सम्यक् प्रयत्न, सम्यक् विचार और सम्यक् ध्यान। संक्षेप में संयमित शील इस धर्म का सार है।

शील के तीन विभाग हैं—क्षुद्र, मध्यम और महा। क्षुद्र शील के अन्तर्गत अदत्तादान त्याग, व्यभिचार त्याग, कठोर भाषण त्याग, चापलूसी त्याग, हिंसा त्याग, मध्यम शील के अन्तर्गत अपरिग्रह, जुआ आदि व्यसनों का त्याग, ऐश्वर्य-शय्या का त्याग, शृंगार त्याग, राजकथा-चौर कथा आदि व्यर्थ कथाओं का त्याग, व्यर्थ के वाद विवाद का त्याग, दौत्य कर्म का त्याग, पाखण्डता, प्रगल्भता आदि दोषों का त्याग और महाशील के अन्तर्गत अंगविद्या, स्वप्न कथन, भूत-प्रेत गारुड़ी विद्याओं का त्याग, फलित ज्योतिष, सामुद्रिक शास्त्र का त्याग, कविता आदि करने से जीविका चलाने का त्याग आदि का विधान है। इन सब प्रपंचों से दूर रहने वाले मनुष्य का सादा जीवन क्या किसी योगी के जीवन से कम होगा? क्या वह सच्चे सुख और शान्ति को प्राप्त न कर सकेगा? जब मानव की मङ्गलमयी भावनायें अपने-पराये, देश-काल आदि के क्षुद्र बन्धनों से ऊपर उठकर सार्वभौम, सार्वयुगीन और प्राणीमात्र में अपनत्व से ओतप्रोत होंगी तभी उसे सच्चा सुख प्राप्त होगा। छान्दोग्य उपनिषद् "यो वै भूमा तत्सुखम्" सिद्धान्त इसकी पुष्टि करता है।

भगवान् बुद्ध के उपदेश लोकोत्तर नहीं, व्यावहारिक थे। सिगालोवादसुत्त में इन उपदेशों की व्यावहारिकता अधिक स्पष्ट हो गयी है। इस सुत्त में बताया गया है कि चार कर्मक्लेशों—हिंसा, चोरी, व्यभिचार और झूठ के नाश

से मनुष्य इस लोक तथा परलोक में भी विजेता के समान अनुभव करता है। सम्पत्ति नाश के छः कारण बताये गये हैं— मादक द्रव्यों का सेवन, बाजार की सैर, नृत्य-वाद्यादि, जुआ, दुर्जन की मैत्री और प्रमाद। इनमें से एक-एक अनर्थोत्पादक है। चार मित्र रूप में शत्रु हैं—पराया धन चुराकर लाने वाला, अधिक बातें बनाने वाला, सदा मीठा बोलने वाला और हानिकर बातों में सहायक। सच्चा मित्र हमेशा उपकारी, सुख-दुःख में समान रहने वाला, अर्थ प्राप्त कराने वाला और अनुकम्पक होता है। इस संसार में चार प्रकार के मनुष्य होते हैं— (१) वे जो बुरे होते हुये भी यह नहीं जानते कि उनमें बुराई है, (२) वे जो बुरे होते हुये यह नहीं जानते हैं कि उनमें बुराई है, (३) वे जो अच्छे होते हुए भी यह नहीं जानते कि उनमें अच्छाई है और (४) वे जो अच्छे होते हुये यह जानते हैं कि उनमें अच्छाई है। इनमें से पहले प्रकार के मनुष्य सबसे हीन और चौथे प्रकार के सबसे उत्तम होते हैं।

ब्राह्मण धर्म में प्रचलित दिङ् नमस्कार का व्याख्यान भगवान् बुद्ध ने विशुद्ध व्यवहार परक किया है। उनके इस व्याख्यान के अनुसार माता पिता पूर्व दिशा, आचार्य दक्षिण दिशा, पुत्र स्त्री पश्चिम दिशा, मित्र अमात्य उत्तर दिशा, दास-नौकर नीचे की दिशा और श्रमण-ब्राह्मण ऊर्ध्व दिशा है। इन्हीं की सेवा दिशा नमस्कार है। दिशायें तो कल्पनामात्र हैं, शून्य है। उन्हें प्रणाम करना तो प्रलपनमात्र है।

उपर्युक्त सभी गुणों से सम्पन्न व्यक्ति को तथागत देवता मानते थे और उनसे शून्य को शव। उन्होंने गृहस्थों को चार प्रकार के सवास बताये हैं[१]— (१) शव का शव के साथ। (२) शव का देवी के साथ। (३) देव का शव के साथ। (४) देव का देवी के साथ। पति तथा पत्नी दोनों के दुराचारी होने पर दोनों का एक साथ निवास शव का शव के साथ सवास है। पति दुराचारी किन्तु पत्नी साध्वी है तो शव का देवी के साथ सवास होता है। इसी प्रकार यदि पति शीलवान् और पत्नी दुराचारिणी है तो उनका सवास देव का शव के साथ सवास और यदि पति तथा पत्नी दोनों ही शीलवान् हैं तो देव का देवी के

१. देखिये—अगुत्तरनिकाय का पठमसवाससुत्त।

साथ सवास बताया गया है। इसीलिये भगवान् का उपदेश था—

"अतीत का अनुगमन मत करो और न भविष्य की ही चिन्ता मे पड़ो। जो अतीत है वह नष्ट हो गया और भविष्य अभी आया नही। तो फिर रात दिन निरालस्य तथा उद्योगी हाकर वर्तमान को ही सुधारने का प्रयत्न करो।"[1] धम्मपद[2] बुद्ध शासन के रहस्य को पापाकरण, पुण्यसचय और चित्तपरिशुद्धि—इन तीन विशेषताओ मे व्यक्त करता है।

भगवान् बुद्ध दरिद्रनारायण के उपासक थे। एक बार मलमूत्र मे सने रोगी भिक्षु को अपने हाथ से नहला कर उन्होने भिक्षुओ को सम्बोधित किया था—"भिक्षुओ! जो मेरी सेवा करना चाहे, वह रोगी की सेवा करे।"[3] मनुष्यमात्र मे उनकी समान बुद्धि थी। उनकी दृष्टि मे कोई भी मनुष्य अस्पृश्य या नीच नही था। वह जन्म से नही, कर्म से 'जाति' मानते थे। उनका सिद्धान्त था "प्राणियो की जातियो मे एक दूसरे से जाति का भेद है, जैसे तृण और वृक्ष में कीट, पतग और चीटी छोटे बड़ चार पैर वाले, जलचर, नभचर पक्षियो आदि मे जाति का लिंग विद्यमान है पर इस प्रकार का जाति लिंग मनुष्यो मे अलग अलग नही है। मनुष्य के किसी अग को लेने पर भी यह जातिभेदक लिंग नही प्राप्त होता। मनुष्यो मे भेद केवल सज्ञा में है। अत कर्म के अनुसार जो गोरक्षा मे जीविका करता है वह कृषक है, जो शिल्प से जीविका करता है वह शिल्पी है, जो व्यापार से जीविका अर्जित करता है वह वैश्य है।"[4]

भगवान् बुद्ध ने अपने उपदेशो मे सूक्ष्म और जटिल दार्शनिक विचारो को आवश्यकता से अधिक स्थान नहीं दिया और न ही लोगो को अपने अगाध वैदुष्य या भव्य व्यक्तित्व से चकित कर बलात् अपनी ओर आकृष्ट किया। उनका दृष्टिकोण नितान्त बुद्धिवादी था। किसी वस्तु को बिना उसकी परीक्षा किये ही मानने के पक्ष मे वे न थे। एक बार कोसल के केसपुत्त निगम मे कालामो ने उनसे प्रश्न किया—'भन्त! जो भी श्रमण ब्राह्मण यहाँ

१ देखिये—मज्झिमनिकाय का भद्देकरत्तसुत्त।
२ गाथा सख्या १८३
३ विनयपिटक का चीवरक्खन्धक।
४. देखिये—मज्झिमनिकाय का वासेट्ठसुत्त।

आते हैं, अपने मत की प्रशंसा और अन्य मतों की निन्दा कर अन्य मतों को ठुकराते हैं। तब हमें संशय होता है कि इनमें से कौन सच कहता है और कौन झूठ कहता है?" इस पर बुद्ध ने उत्तर दिया—'संशय योग्य स्थान में तुम्हें संशय हुआ है। कालामो! आओ, न अनुश्रवण से और न परम्परा से ही विश्वास करो। मान्यशास्त्र की अनुकूलता से भी विश्वास मत करो। न तर्क से, न *न्यायहेतु से*, न वक्ता के *भव्य व्यक्तित्व से* और न 'यह हमारा गुरु है' इस भावना से विश्वास करो। कालामो! जब तुम स्वयं ही यह जान लो कि अमुक धर्म अकुशल, सदोष, विज्ञजन निन्दित और अहितकर होगा, तो उसे त्याग दो।"[1] उनके द्वारा उपदिष्ट धर्म साधन था साध्य नहीं। उनकी स्पष्ट उद्घोषणा थी—"भिक्षुओ! मैं बेड़े की भांति निस्तरण के लिये तुम्हें धर्मों का उपदेश करता हूं, पकड़ रखने के लिये नहीं। धर्म को बेड़े के समान उपदिष्ट जानकर तुम धर्म को भी छोड़ दो, अधर्म की तो बात ही क्या?'[2]

धन्य हैं ऐसे समाज-सुधारक, परम कारुणिक उदारचेता तथागत बुद्ध। अपने *इन्हीं लोकोत्तर गुणों के ही कारण तो उन्हें हिन्दुओं के 'दशावतारों' में* सादर स्थान प्राप्त हुआ। जैनियों के २४ तीर्थङ्करों की भांति चौबीस बुद्धों की कल्पना की गयी। यही नहीं, ईसा की प्रथम शताब्दी में ही 'वैतुल्यवादी (वैतुल्यवादी) अन्यक बुद्ध के व्यवहार को लोकोत्तर मानने लगे थे (कथावत्थु २।८), उनका विश्वास था कि बुद्ध मनुष्य लोक में आकर ठहरे ही नहीं (१८।१) और न उन्होंने धर्म का उपदेश ही किया (१८।२)।"[3]

---

१. देखिये—अंगुत्तरनिकाय का केसमुत्तिसुत्त।
२. देखिये—मज्झिमनिकाय का अलगद्दूपमसुत्त।
३. राहुल: पुरातत्त्वनिबन्धावलि, पृ० १०८ की पाद टिप्पणी से साभार उद्धृत।

बौद्धसंघ

महात्मा बुद्ध ने अपने धर्म के प्रचारार्थ एक 'संघ' की स्थापना की। इस 'संघ' की कार्यविधि तत्कालीन गणराज्य पद्धति के ही अनुरूप थी। अलग-अलग प्रदेशों में अलग-अलग 'संघ' थे जो अपने आप में पृथक् व स्वतन्त्र सत्ता सम्पन्न थे। प्रत्येक भिक्षु को 'संघ' के नियमों का कठोरता से पालन करना होता था। वज्जिसंघ को भगवान् बुद्ध ने निम्नलिखित सात अपरिहारणीय धर्मों का उपदेश दिया था। ये ही धर्म या नियम बौद्ध संघ के लिये भी उपदिष्ट हैं—

१ एक साथ इकट्ठे होकर सदा-सदा सभायें करते रहना।

'२ एक होकर बैठक करना, एक ही उत्थान करना और एक ही संघ-कार्यों का सम्पादन करना।

३ संघ द्वारा विहित का उल्लंघन न करना, अविहित का अनुसरण न करना, शाश्वत नियमों का सदा पालन करना।

४ बड़े, धर्मानुरागी, चिरप्रव्रजित, संघनायक स्थविर भिक्षुओं का सत्कार करना।

५ तृष्णा से दूर रहना।

६ अरण्य में वास करना।

७. ब्रह्मचर्य का पालन करना।[1]

भिक्षुसंघ के सदस्यों के बैठने के लिये पृथक् पृथक् आसन होते थे। 'आसन प्रज्ञापक' नामक कर्मचारी आसनों की व्यवस्था करता था। संघ की बैठक के लिये कम से कम बीस भिक्षुओं की उपस्थिति आवश्यक थी। 'गणपूरक' कर्मचारी कोरम पूर्ति का प्रयत्न करता था। किसी भी प्रस्ताव की स्वीकृति के लिये बहुमत आवश्यक था। बौद्ध ग्रन्थों में वोट' के लिये 'छन्द' और बैलट-पेपर के लिए 'शलाका' शब्द प्रयुक्त हुआ है। 'शलाका-ग्राहक' कर्मचारी वोट एकत्रित करता था। चुल्लवग्ग में वोटिंग प्रक्रिया का विशद वर्णन प्राप्त होता है। वोटिंग की तीन पद्धतियां थीं—गूढ़क, सकर्णजल्पक और विवृतक।

---

१. विशेष विवरण के लिए देखिए—महापरिनिब्बानसुत्त।

संघीय भिक्षुओं के लिये आचार-संहिता का पालन आवश्यक था। पाराजिक [1] कर्म करने पर भिक्षु सदा के लिये संघ से बहिष्कृत कर दिया जाता था। तेरह प्रकार के संघादिसेस कर्मों के लिये कुछ अवधि के लिये भिक्षु संघ से बाहर निकाल दिया जाता था।

१. जानबूझ कर वीर्यपात करना।

२. कामवासना से स्त्री-स्पर्श।

३. कामवासना से स्त्री-वार्तालाप।

४. अपनी प्रशंसा कर स्त्री को बुरे उद्देश्य से अपनी ओर आकृष्ट करना।

५. विवाह करवाना।

६ संघ की अनुमति के बिना अपने लिये विहार बनवाना।

७. संघ की अनुमति के बिना बड़ा विहार बनवाना।

८. क्रोध से अकारण ही भिक्षु पर पाराजिक दोष लगाना।

९. पाराजिक-समान अपराध लगाना।

१०. संघ में फूट डालने का प्रयत्न करना।

११. फूट डालने वाले का साथ देना।

१२. गृहस्थ की अनुमति के बिना उसके घर में प्रवेश करना।

१३. चेतावनी देने पर भी संघ का आदेश न सुनना।

उपोसथ का विधान भिक्षुओं के लिये आवश्यक था। एक तले का जूता श्रेष्ठ समझा जाता था। १. आराम की वस्तुयें, २ विहार की वस्तुयें ३. मंच, गद्दा, तकिया, ४. लौह-पात्र और ५ रस्सी, बांस, लकड़ी तथा मिट्टी के बर्तन विहार की अविभाज्य वस्तुयें थीं। मांस, सिंह, व्याघ्र आदि का मांस गृहस्थों के लिये भी अभक्ष्य था। इसके अतिरिक्त तीस 'निस्सग्गिया पाचित्तिया धम्मा' '९२ पाचित्तिया धम्मा', 'चार पटिदेसनिया धम्मा' :७५ सेखिया धम्मा' और 'सात अधिकरण समथा धम्मा' नियमों का विशद वर्णन विनयपिटक में हुआ।

---

१. मैथुन, चोरी, हत्या और सरकार प्राप्त्यर्थ सिद्धियां प्रदर्शन ये चार पाराजिक कर्म हैं।

इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि संघ के नियम अत्यधिक कठोर थे। अतः कुछ भिक्षुओं में असन्तोष भी व्याप्त हो गया हो तो आश्चर्य नहीं। यही कारण है कि तथागत के महापरिनिर्वाण के अनन्तर एक भिक्षु यह भी कहते सुना गया 'अच्छा हुआ, वह मर गया। अब हम सुखपूर्वक जैसा भी चाहेंगे, रहेंगे, विहरेंगे।"

बौद्ध मत

बुद्धत्व लाभ करने के बाद तथागत ने चार आर्यसत्यों को संसार-सागर में डूबते-उतराते आर्त्त लोगों के समक्ष प्रस्तुत किया। उनका कटु अनुभव था कि संसार दुःखमय है, कोई भी जीव दुःख मुक्त नहीं है। यह दुःख सहेतुक है। जब दुःख सहेतुक है तो उसका नाश भी सम्भव है। दुःखनाश के उपाय अशक्य नहीं हैं तो फिर क्यों न दुःख से मुक्त हों? न केवल भगवान् बुद्ध अपितु सभी दर्शन दुःख का मूल कारण अविद्या को ही मानते हैं। बौद्ध दर्शन की 'अविद्या' वेदान्त की 'माया' की ही भांति अनिर्वचनीय शक्ति से सम्पन्न है। अविद्या की इसी शक्ति के फलस्वरूप कारणों की एक परम्परा बन जाती है जिसका प्रत्येक क्षण कार्य कारण रूप से सम्बद्ध है। इस परम्परा को प्रतीत्यसमुत्पाद (एक वस्तु की उपलब्धि होने पर दूसरी वस्तु की उत्पत्ति) कहा जाता है। इसका स्वरूप निम्नलिखित है—

(१) अविद्या से संस्कार, (२) संस्कार से विज्ञान, (३) विज्ञान से नामरूप, (४) नामरूप से षडायतन, (५) षडायतन से स्पर्श, (६) स्पर्श से वेदना, (७) वेदना से तृष्णा, (८) तृष्णा से उपादान (राग) (९) उपादान से भव, (१०) भव से जाति, (११) जाति से जरा, (१२) जरा से मरण। संसारचक्र इन्हीं कार्यकारण परम्परा की परम्परा में चलता रहता है। जब तक जीव इस प्रतीत्य समुत्पाद से मुक्त नहीं होता, उसके दुःख का नाश नहीं होता। संसार की सभी वस्तुयें अनित्य हैं। दुःख भी अनित्य है। उससे मुक्ति पाना असम्भव

नहीं है। बुद्ध ने स्वयं कहा था—

> चतुन्नं अरियानं सच्चानं यथाभूतं अदस्सना।
> संसरितं दीघमद्धानं तासु तास्वेव जातिसु।
> तानि एतानि दिट्ठानि भव नेत्ति समूहता।
> उच्छिन्नं मूलं दुक्खस्स नत्थि दानि पुनब्भवोति ॥
>
> (महापरिनिब्बानसुत्त, २।४६)।

दुःख निरोध के लिये तथागत ने पंचशील (अहिंसा, अस्तेय, सत्य, ब्रह्मचर्य, अमद्यपान) और अष्टांग मार्ग का उपदेश दिया। इन नियमों का पालन करते करते मनुष्य क्रमशः अपने लक्ष्य की ओर अग्रसर होता है, प्रत्येक स्थिति में वह दोषों से मुक्त होता चलता है। बुद्धत्व प्राप्ति से पूर्व उसकी तीन विशेष अवस्थायें होती हैं—श्रावक, प्रत्येक बुद्ध और बोधिसत्व। प्रथम अवस्था में साधक त्रिविध क्लेशों से मुक्त तो रहता है किन्तु बुद्धत्व लाभ की प्रबल इच्छा उसमें होती है, अतः आचार्य के समीप जा उपदेश ग्रहण करता है। 'प्रत्येक बुद्ध' वह व्यक्ति कहलाता है जिसे अपने पूर्व जन्मों के संस्कारों के कारण स्वतः ही ज्ञानचक्षु का उन्मीलन हो जाने के कारण आचार्य के उपदेशों का आश्रय नहीं लेना पड़ता। वह ज्ञानी तो हो जाता है, पर उसमें दूसरों के उद्धार की शक्ति नहीं रहती। ऐसा साधक द्वन्द्वमय जगत् से दूर हटकर निर्जन स्थान में वास करता हुआ निर्वाण सुख का प्रत्यक्ष अनुभव करता है। बोधिप्राप्ति की इच्छा वाला व्यक्ति 'बोधिसत्व' कहलाता है। इस अवस्था को प्राप्त हुये साधक का जीवन-लक्ष्य नितान्त उदात्त होता है, वह न केवल अपना कल्याण चाहता है, अपितु प्राणिमात्र का दुःख दूर करने के लिये भी सदैव तत्पर रहता है।

हीन सम्प्रदाय बुद्धत्वप्राप्ति तक श्रावक की चार भूमियां स्वीकार करता है—

(क) स्रोतापन्न—इस भूमि में श्रावक की चित्तवृत्ति संसार से विरक्त होकर निर्वाण की ओर उन्मुख हो जाती है। उसके तीनों संयोजनों का क्षय हो जाता है। अतः उसे अर्हत् पद तक पहुंचने के लिये केवल सात बार जन्म लेना होता है।

(ख) सकृदागामी—यह भूमि स्रोतापन्न की फलावस्था से अर्हत् मार्गावस्था तक रहती है। इस भूमि मे आस्रवो का नाश ही श्रावक का प्रधा लक्ष्य रहता है, इसलिये उसे 'कामसवक्षी' की सज्ञा मिलती है। सकृदागाम ससार मे एक ही बार आता है।

(ग) अनागामी—इस भूमि मे श्रावक उपर्युक्त दोनों बन्धनो से मुक्त होक आगे बढता है। जीवन क्षय होने पर उसे पुनः भव-चक्र मे आने की आवश्यकत नही रहती।

(घ) अर्हत्—इस भूमि मे आस्रवो का नितान्त क्षय हो जाता है, तृष्ण शान्त हो जाती है। वह व्यक्तिगत कल्याण साधन मे तत्पर रहता है कि अन्यो को निर्वाण प्राप्त कराने मे सक्षम नही होता। हीनयान बौद्धो का चर लक्ष्य यही है।

महायान सम्प्रदाय मे दश भूमिया स्वीकृत की गयी हैं—

(१) मुदिता—इस भूमि मे 'करुणा का उदय' अपनी विशेषता रखता है लोक-कल्याण की प्रबल इच्छा उसके हृदय मे होती है।

(२) विमला—त्रिविध पापों का नाश तथा शीलपारमिता का अभ्यास

(३) प्रभाकरी—काम तथा तृष्णा का क्षय, संस्कृत धर्मों का नाश और धैर्यपारमिता का अभ्यास।

(४) अर्चिष्मती—दया, मैत्रीभाव का उदय, अष्टांग-मार्ग और वीर्यपारमित का अभ्यास।

(५) सुदुर्जया—समत्व भाव, विरक्ति। ध्यानपारमिता का अभ्यास।

(६) अभिमुक्ति—प्रज्ञापारमिता का विशेष अभ्यास।

(७) दूरगमा—ज्ञान-मार्ग मे अग्रसर हो 'शत्व' की प्राप्ति।

(८) अचला—साधक जगत् तुच्छ और अपने को सबसे परे समझता है।

(९) साधमती—लोककल्याण के उपाय और धर्म का उपदेश।

(१०) धर्ममेघ—समाधिनिष्ठ और बुद्धत्व प्राप्ति। इसके बाद निर्वाण की प्राप्ति होती है।[1]

---

१. विशेष विवरण के लिये देखिये—असग द्वारा प्रणीत दशभूमिशास्त्र।

बौद्ध मत के सम्प्रदाय

प्रारम्भ में ही इतना स्पष्ट कर देना अनुचित न होगा कि तथागत ने आध्यात्मिक प्रश्नों का साक्षात् समाधान नहीं किया। जब कभी उनसे आत्मा आदि के सम्बन्ध में प्रश्न किए गये, उन्होंने मौन साध लिया। ठीक भी है, कारुणिक भगवान् लोगों को तात्त्विक चिन्तन के झमेले से दूर रखकर विशुद्ध व्यावहारिक धर्म का उपदेश करते थे। फिर भी अनेक दार्शनिक समस्यायें सर्वांग भिक्षुओं के मन में उठती ही होंगी जिन पर संघ के लोग समय समय पर चिन्तन करते ही रहे होंगे। भगवान् के निर्वाण के बाद संघ के भिक्षुगण अपनी-अपनी रुचि के अनुसार बुद्ध वचनों का अर्थ लगाने लगे, जिसके फलस्वरूप बौद्ध मत के प्रारम्भ में ही दो भेद हो गये—महासांघिक और स्थविरवाद। महासांघिक भिक्षु तर्क का आश्रय लेने वाले विकसनशील प्रणाली के समर्थक थे, किन्तु स्थविरवादी एक तरह से रूढ़िवादी थे, परम्पराओं में लेशमात्र भी परिवर्तन उन्हें मान्य न था। आपसी छोटे-छोटे मतभेदों को लेकर जो अनेक सम्प्रदाय उठ खड़े हुए उनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

महासांघिकों को अपने प्रगतिशील विचारों के कारण समाज में विशेष आदर प्राप्त था। अतः स्थविरवादी इनसे ईर्ष्या करने लगे। दोनों में पारस्परिक वैमनस्य अपनी पराकाष्ठा पर पहुंच गया। वैशाली की सभा में स्थविरवादियों ने महासांघिकों को तिरस्कृत कर संघ से बहिष्कृत कर दिया। महासांघिकों ने भी बदला लेने की भावना से स्थविरवादी सम्प्रदाय को हीनयान (निम्न मार्ग) और अपने सम्प्रदाय को महायान (प्रशस्त मार्ग) कहना प्रारम्भ कर दिया। आगे चलकर हीनयान सम्प्रदाय वैभाषिक और सौत्रान्तिक तथा महायान सम्प्रदाय योगाचार (विज्ञानवाद) एवं माध्यमिक (शून्यवाद) दो-दो भागों में विभक्त हो गये।

वैभाषिक मतानुयायी जगत् तथा चित्तसन्तति—दोनों की सत्ता को पृथक्-पृथक् स्वतन्त्र मानते हैं। जगत् की बाह्य सत्ता है। दैनन्दिन व्यवहार में बाह्य-जगत् की सत्ता का अपलाप नहीं किया जा सकता। 'ब्रह्मसत्य जगन्मिथ्या' के उद्घोषक आचार्य शङ्कर भी जगत् की व्यावहारिक सत्ता को नकार नहीं सके।

बौद्धमत
महासांघिक
स्थविरवाद
१. मूल महासांघिक,
२. एक व्यावहारिक,
३. लोकोत्तरवाद,
४. कौकुल्लका,
५. बहुश्रुतीय,
६ प्रज्ञप्तिवाद
७ चैत्यशैल,
८ अवरशैल,
९ उत्तरशैल ।
हैमवत
सर्वास्तिवाद
१. वात्सीपुत्र,
२ धर्मोत्तर,
३ भद्रयानिक,
४. सम्मितीय,
५. छान्दागारिक,
६ महीशासक,
७ धर्मगुप्तिक,
८ काश्यपीय,
९. सौत्रान्तिक ।

मत वैभाषिक लोग बाह्यार्थ को प्रत्यक्षरूपेण सत्य मानते हैं। यह 'सत्ता' प्रतिक्षण परिवर्तनशील है, अतः क्षण भंगवाद के वे समर्थक भी हैं। इसके विपरीत सौत्रान्तिक बाह्यार्थ को प्रत्यक्ष सिद्ध न मानकर अनुमान द्वारा सिद्ध मानते हैं। उनका सिद्धान्त है कि चित्त में नाना आकारों की उत्पत्ति और नाश होता रहता है। ये 'आकार' चित्त के अपने धर्म न होकर बाह्य वस्तुओं के होते हैं। इन्हीं आकारों के द्वारा बाह्यसत्ता का ज्ञान हमें अनुमान द्वारा प्राप्त होता है। वैभाषिक 'चित्तनिरपेक्ष सत्ता' का अनुमोदक है, सौत्रान्तिक 'चित्तसापेक्ष सत्ता' का।

योगाचार मत में भौतिक जगत नितान्त मिथ्या है। इस मत में बाह्य सत्ता को स्वीकार न कर 'चित्त' को ही एकमात्र सत्य पदार्थ माना गया है। चित्त, मन, विज्ञप्ति और विज्ञान एक ही अर्थ के पर्याय हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार स्वयं प्रकाशवान्, परस्पर भिन्न किन्तु वासना संक्रमण के कारण एक दूसरे से सम्बद्ध अनन्त विज्ञानों का चित्त में उदय होता रहता है। यह 'विज्ञान' ही एकमात्र सत्य है क्योंकि बाह्य वस्तु की सत्ता का पता तो समय समय पर चित्त में उत्पन्न होने वाले आकारों के ज्ञान' के द्वारा ही चलता है। जब बाह्य पदार्थों की सत्ता 'ज्ञान' पर आश्रित है तो वह 'ज्ञान' ही वास्तविक सत्ता' हुआ।

माध्यमिक सम्प्रदाय में बाह्यार्थ और विज्ञान—दोनों का निराकरण कर 'शून्य' को परम सत्य माना गया है। 'शून्य' का तात्पर्य 'अभाव' से नहीं है। 'शून्य' न सत् है, न असत् है, न सदसत् है और न इन दोनों से भिन्न। अनिर्वचनीय, अलक्षण होने के कारण ही 'परमार्थ' को 'शून्य' कहा गया है।

उपर्युक्त विवेचन से यह निष्कर्ष अनायास ही निकल आता है कि बौद्ध धर्म उत्तरोत्तर तात्त्विक चिन्तन की ओर अग्रसर होता ही गया है। स्वतन्त्र प्रज्ञा के बल पर तथागत के सीधे-सादे उपदेशों की तहों में पैठ-पैठकर बौद्ध-पण्डित 'धर्म' के दायरे से बाहर आकर दर्शन के क्षेत्र में प्रौढता प्राप्त करने में व्यस्त थे। वैभाषिक मत की बाह्य सत्ता सौत्रान्तिक मत में अन्तर्मुखी दिखाई पड़ती है। योगाचार में प्रत्यक्ष सत्ता और अनुमेय सत्ता—दोनों का खण्डन कर 'विज्ञान' की प्रतिष्ठा की गयी। अन्त में बौद्ध पण्डित 'विज्ञान' से भी आगे

बौद्धमत
महासाघिक
स्थविरवाद
१ मूल महासाघिक,
२. एक व्यावहारिक,
३. लोकोत्तरवाद,
४. कौरुकुल्लका,
५. बहुश्रुतीय,
६ प्रज्ञप्तिवाद
७ चैत्यशैल,
८ अवरशैल,
९ उत्तरशैल ।
हैमवत
सर्वास्तिवाद
१. वात्सीपुत्र,
२ धर्मोत्तर,
३ भद्रयानिक,
४. सम्मितीय,
५. छान्दागारिक,
६ महीशासक,
७ धर्मगुप्तिक,
८ काश्यपीय,
९. सौत्रान्तिक ।

मत वैभाषिक लोग बाह्यार्थ को प्रत्यक्षरूपेण सत्य मानते हैं। यह 'सत्ता' प्रतिक्षण परिवर्तनशील है, अतः क्षण भंगवाद के वे समर्थक भी हैं। इसके विपरीत सौत्रान्तिक बाह्यार्थ को प्रत्यक्ष सिद्ध न मानकर अनुमान द्वारा सिद्ध मानते हैं। उनका सिद्धान्त है कि चित्त में नाना आकारों की उत्पत्ति और नाश होता रहता है। ये आकार' चित्त के अपने धर्म न होकर बाह्य वस्तुओं के होते हैं। इन्हीं आकारों के द्वारा बाह्यसत्ता का ज्ञान हमें अनुमान द्वारा प्राप्त होता है। वैभाषिक 'चित्तनिरपेक्ष सत्ता' का अनुमोदक है, सौत्रान्तिक 'चित्तसापेक्ष सत्ता' का।

योगाचार मत में भौतिक जगत् नितान्त मिथ्या है। इस मत में बाह्य सत्ता को स्वीकार न कर 'चित्त' को ही एकमात्र सत्य पदार्थ माना गया है। चित्त, मन, विज्ञप्ति और विज्ञान एक ही अर्थ के पर्याय हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार स्वयं प्रकाशवान्, परस्पर भिन्न किन्तु वासना संक्रमण के कारण एक दूसरे से सम्बद्ध अनन्त विज्ञानों का चित्त में उदय होता रहता है। यह 'विज्ञान' ही एकमात्र सत्य है क्योंकि बाह्य वस्तु की सत्ता का पता तो समय-समय पर चित्त में उत्पन्न होने वाले आकारों के ज्ञान' के द्वारा ही चलता है। जब बाह्य पदार्थों की सत्ता 'ज्ञान पर आश्रित है तो वह 'ज्ञान' ही वास्तविक सत्ता' हुआ।

माध्यमिक सम्प्रदाय में बाह्यार्थ और विज्ञान—दोनों का निराकरण कर 'शून्य' को परम सत्य माना गया है। 'शून्य' का तात्पर्य 'अभाव' से नहीं है। 'शून्य' न सत् है, न असत् है न सदसत् है और न इन दोनों से भिन्न। अनिर्वचनीय, अलक्षण होने के कारण ही 'परमार्थ' को 'शून्य' कहा गया है।

उपर्युक्त विवेचन से यह निष्कर्ष अनायास ही निकल आता है कि बौद्ध धर्म उत्तरोत्तर तात्त्विक चिन्तन की ओर अग्रसर होता ही गया है। स्वतन्त्र प्रज्ञा के बल पर तथागत के सीधे-सादे उपदेशों की तहों में पैठ-पैठकर बौद्ध-पण्डित 'धर्म' के दायरे से बाहर आकर दर्शन के क्षेत्र में प्रौढ़ता प्राप्त करने में व्यस्त थे। वैभाषिक मत की बाह्य सत्ता सौत्रान्तिक मत में अन्तर्मुखी दिखाई पड़ती है। योगाचार में प्रत्यक्ष सत्ता और अनुमेय सत्ता—दोनों का काटकूट कर 'विज्ञान' की प्रतिष्ठा की गयी। अन्त में बौद्ध पण्डित 'विज्ञान' से भी आगे

बढ़कर विशुद्ध दार्शनिक 'शून्य' में प्रतिष्ठित हो गये हैं। यह 'शून्य' ही उनका परमतत्त्व है, इसके परे उनका गन्तव्य ही नहीं है।

विभिन्न बौद्ध मतों में निर्वाण का स्वरूप

वैभाषिकों के मत में श्रावक की चित्तसन्तति जब क्लेश शून्य होती है तब वह मुक्तिभाव को प्राप्त होता है— "क्लेशशून्या चित्तसन्ततिर्मुक्तिरिति वैभाषिका।[1] निर्वाण नित्य, असंस्कृत धर्म तथा स्वतन्त्र है। इसका चित्त और चैतसिक से कोई सम्बन्ध नहीं है। यह एक है, सभी भेद इसी में विलीन हो जाते हैं। ज्ञान का आधार भी यही है।

सौत्रान्तिकों के मत में निर्विषय चित्त-सन्तति ही मुक्ति है—"निर्विषया चित्तसन्तति सौत्रान्तिकाः मुक्तिमाहुः।[2]" इनके मत में निर्वाण का स्वरूप दीपक के निर्वाण के समान है। भदन्त अश्वघोष ने इस स्थिति का सुन्दर विवेचन इस प्रकार किया है[3] —

दीपो यथा निर्वृतिमभ्युपेतो, नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम्।
दिशं न काञ्चिद् विदिशं न काञ्चित्, स्नेहक्षयात् केवलमेति शान्तिम्।
तथा कृती निर्वृतिमभ्युपेतो, नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम्।
दिशं न काञ्चिद् विदिशं न काञ्चित्, क्लेशक्षयात् केवलमेति शान्तिम्।

पदार्थ धर्म संग्रह सेतु के प्रणेता आचार्य पद्मनाभ मिश्र के अनुसार योगाचार मत में चित्तवृत्तियों के निरोध को ही मुक्ति कहा जाता है— "चित्तवृत्तिनिरोधो मुक्तिरिति योगाचार।" लंकावतार सूत्र में कहा गया है— चित्त की प्रवृत्ति तथा मुक्ति होती है। चित्त ही उत्पन्न होता है, चित्त का ही निरोध होता है। सभी वस्तुयें ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेयस्वरूप चित्त की ही विकल्प है। निर्वाण की स्थिति 'लोकोत्तरज्ञान' है जिसमें 'सर्वज्ञता' की प्राप्ति होती है। प्रकृति शुद्ध और अप्रतिष्ठित भेद से निर्वाण दो प्रकार का माना गया है

---

१. पद्मनाभमिश्र, पदार्थ धर्मसंग्रह सेतु, पृ० २६।

२. ,, पृष्ठ २६।   ३. सौन्दरनन्द, १६।२८,२९

बोधिसत्त्व के हृदय मे परोपकार की भावना होती है, अत वह अपना चित्त निर्वाण में नही लगाते । इसी कारण उनकी सत्ता अप्रतिष्ठित निर्वाण मे मानी जाती है । इस निर्वाण को केवल 'बुद्धजन' ही प्राप्त कर सकते हैं। इसके विपरीत श्रावक और प्रत्येक बुद्ध सम्पूर्ण दुःखो की शान्ति के लिये निर्वाण मे ही प्रतिष्ठित मन वाले होते हैं ।

माध्यमिक मत मे निर्वाण का राग के समान त्याग नही हो सकता और न सात्विक जीवन के फल के समान इसकी प्राप्ति ही सम्भव है । यह उत्पत्ति और निरोध दोनों से भिन्न अशाश्वत पदार्थ है । नागार्जुन ने कहा भी है—

अप्रहाणं असम्प्राप्तम् अनुच्छिन्नमशाश्वतम् ।

अनिरुद्धमनुत्पन्नमेतन्निर्वाणमुच्यते ॥

यह अनिर्वचनीय स्थिति कल्पना-जाल के क्षय होने पर ही सम्भव है ।

बुद्धोपदेश की भाषा

भगवान् बुद्ध का लक्ष्य था कि उनका सन्देश केवल विद्वद्वर्ग तक सीमित न होकर अपढ लोगो तक भी समान रूप से पहुचे । वह अपने धर्म को प्रासाद से लेकर झोपडी तक मे समान रूप से व्याप्त देखना चाहते थे । अपने इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये भगवान ने अपने उपदेश तत्कालीन प्राकृत भाषा मे ही दिये । चूकि तथागत का प्रधान कार्यक्षेत्र "मगध, रहा था, अत उनकी भाषा भी उसी प्रान्त से सम्बन्धित रही होगी । निम्नलिखित श्लोक 'मागधी' को ही बुद्धवचन की मूलभाषा स्पष्ट रूप से मानता है—

सा मागधी मूलभासा नरा यायादिकप्पिका ।

ब्राह्मणा चस्सुतालापा सम्बुद्धा चापि भासरे ।

सघ तथा राज्य का प्रश्रय प्राप्त होने पर इस लोक भाषा को साहित्यिक रूप प्राप्त हो गया । बुद्ध वचनो का सग्रह इसी भाषा मे हुआ, अत बौद्धो की धर्म-भाषा के रूप में प्रतिष्ठित 'मागधी' भाषा का स्वरूप स्थिर हो गया । पर, एक बात ध्यान देने योग्य है । विशुद्ध 'मागधी' भाषा ही आज की पालि भाषा

रही है। दोनों में अन्तर आ गया है। इसका एक मुख्य कारण है। संघ में विभिन्न प्रदेशों से आये हुये भिक्षु एक ही साथ रहते थे। फिर, भगवान् का आदेश भी था— "अनुजानामि भिक्खवे, सकायनिरुत्तियाबुद्धवचनपरियापुणितुं" अर्थात भिक्षुओ, अपनी अपनी भाषा में बुद्ध वचन सीखने की अनुमति देता हूँ। अतः संघ की एक सामान्य भाषा मागधी में भी वैभिन्य आ गया। संघ की यही विकसित भाषा आगे चलकर 'पालिभाषा' कही जाने लगी। पालिभाषा के प्रसिद्ध एवं प्राचीनतम वैयाकरण मोग्गल्लान ने अपने व्याकरण का नाम 'मागध शब्द लक्षण' कहा है—

> सिद्धमिद्धगुणं साधु नमस्सित्वा तथागतं ।
> सधम्मसंघं भासिस्सं मागधं सद्दलक्खणम् ॥

आखिर, मागधी भाषा का नाम पालिभाषा कैसे पड़ा? प्रारम्भ में केवल बुद्धवचन के लिये 'पालि' शब्द का व्यवहार होता था, अट्ठकथा के लिये इस नाम से सम्बोधित नहीं किया जाता था—"पिटकत्तयपालि च तस्स अट्ठकथा च।[1]" इससे निष्कर्ष यह निकाला जा सकता है कि धीरे-धीरे उस भाषा का नाम—जिसमें बुद्ध-वचन सुरक्षित थे, 'पालि' हो गया।

मागधी भाषा का पालि नाम हो जाने के बाद लोगों ने इसके नामकरण के विषय में अनेक प्रकार की कल्पनायें कीं। विभिन्न विद्वानों द्वारा स्थापित मतों का सारांश यहाँ सकलित किया जाता है—

१. भिक्षु सिद्धार्थ के अनुसार पाठ <पाल<पाळ<पालि।

२. प० विधुशेखर भट्टाचार्य के अनुसार 'पालि' का अर्थ पंक्ति है। अभिधानप्पदीपिकाकार ने 'पा रक्खणे' धातु से ण्यादि का 'लि' प्रत्यय लगाकर 'पालि—पंक्ति यह अर्थ किया है।

३. डा० मैक्स वेलेसर के अनुसार पाटलिपुत्र की भाषा का नाम पाटलि > पाडलि > पाअलि > पालि है।

४. संस्कृत 'पल्लि' शब्द का अर्थ है गांव। प्रारम्भ में इस पल्लिभाषा कहा जाता रहा होगा। 'पल्लि' ही कालान्तर में 'पालि' शब्द बन गया।

---

[1] दीघवंस, २०।२०

५. कुछ विद्वान् प्राकृत > पाकट > पाग्रड > पाग्रल > पाल > पालि इस प्रकार निरुक्ति बताते हैं।

६. कुछ सिर फिरे वैयाकरण संस्कृत 'प्रातेय' (पड़ोसी) शब्द में 'पालि' का मूल खोजते हैं।

७. भिक्षु जगदीश काश्यप का विचार है कि त्रिपिटक में जगह-जगह पर बुद्धदेसना के अर्थ में प्रयुक्त 'परियाय' शब्द ही 'पालि' का मूलरूप है। अशोक के भब्रू शिलालेख में यही 'परियाय' 'पलियाय' हो गया है। परियाय > पलियाय > पालियाय > पालि यह पालि का निरुक्ति क्रम है।

पालि का उद्‌भव स्थल

पालि किस प्रदेश की मूल भाषा थी ? इस प्रश्न पर विद्वानों में मतैक्य नहीं दीख पड़ता। विभिन्न मतों का सारांश इस प्रकार है—

१. रायडेविड्स ने कोसल प्रदेश को पालि का जन्म स्थल माना है। अपने मत की पुष्टि में उन्होंने दो प्रमुख तर्क उपस्थित किये हैं, एक तो स्वयं भगवान् बुद्ध कोसल प्रदेश के थे, अत: उनकी मातृभाषा भी वहीं की भाषा रही होगी। दूसरे, उनके निर्वाण के १०० वर्ष बाद कोसल में ही उनके उपदेशों का संग्रह किया गया।

२. वैस्टर गार्ड का मत है कि पालि उज्जैन की भाषा थी। क्योंकि पालि भाषा सर्वाधिक साम्य गिरनार के शिलालेख की भाषा के साथ है। साथ ही कुमार महेन्द्र की मातृभाषा भी यही थी, उसी ने सर्वप्रथम बौद्ध धर्म लंका में पहुँचाया था।

३. आर० ओ० फ्रैंक तथा स्टेनकोनो विन्ध्यप्रदेश को इस भाषा का उद्‌भव स्थल मानते हैं। उनके दो तर्क हैं— १. पैशाची प्राकृत के साथ पालि का घनिष्ट सम्बन्ध दीख पड़ता है। यह उज्जैन के आसपास विन्ध्य प्रदेश में बोली जाती थी। २. गिरिनार शिलालेख की भाषा इससे बहुत मिलती जुलती है।

४. ओल्डनबर्ग इसे कलिंग देश की भाषा मानते हैं। वह खडगिरी के शिलालेख की भाषा और पालि मे अधिक समानता देखते हैं। ई० मुलर भी इसी मत के समर्थक हैं।

५ गायगर, चाइल्डरा, विन्टरनित्ज, भिक्षु जगदीश काश्यप प्रभृति विद्वानो की मान्यता है कि पालिभाषा मागधी भाषा का ही एक रूप है। भले ही तथागत की जन्मभूमि मगध न थी, किन्तु उनका कार्यक्षेत्र तो मगध था। अतः उनकी भाषा पर पूरा-पूरा प्रभाव मगध प्रदेश की भाषा का निश्चय ही पडा होगा। अत बुद्ध की भाषा को मागधी भाषा मानने म कोई विप्रतिपत्ति नही दीखती।

पालिभाषा का विकास-क्रम—पालिभाषा के विकास-क्रम को समझने के लिये भारतीय भाषाओं के विकास के इतिहास की ओर दृष्टि अवश्य डालनी होगी। भारतीय भाषाओं का विकास तीन विभिन्न युगों का इतिहास है—(१) वैदिककाल से ५०० ई०पू० तक, (२) ५०० ई० से १००० ई०पू० तक और (३) १००० ई० से वर्तमान समय तक। इनमे से प्रथम को प्राचीन भारतीय आर्य-भाषा युग, द्वितीय को मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषा युग और तृतीय को आधुनिक आर्य भाषा युग नाम दिया जा सकता है। प्रथम युग की भाषा का स्वरूप ऋग्वेद की ऋचाओं में सुरक्षित है। अन्य वैदिक ग्रन्थों म इसी भाषा का उत्तरोत्तर विकसित स्वरूप परिलक्षित होता है। ब्राह्मण-ग्रन्थो तथा सूत्र ग्रन्थोंमें जो भाषा प्रयुक्त हुई है उसका मूल ऋचाओं की भाषा के साथ तुलनात्मक अध्ययन करने पर यह निष्कर्ष अनायास ही निकल आता है कि उस समय तक वैदिक भाषा में पाये जाने वाले विविध प्रयोग उसके मूल-स्वरूप की रक्षा मे बाधक बन रहे थे। अत विद्वानो का अपना अधिक से अधिक समय एव परिश्रम भाषा को एकरूपता प्रदान करने में लगाना पड़ा। इस द्वितीय युग (मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषा युग) म वेद की भाषा को नियमित एव एक रूप बना दिया गया जिसके फलस्वरूप अत्यन्त परिमार्जित 'संस्कृत' भाषा का अन्तर्प्रान्तीय, राष्ट्रीय एव शिष्ट साहित्य की भाषा के रूप म विकास हुआ। इसी युग में जहाँ पण्डित भाषा को एकरूपता प्रदान करने म व्यस्त थे, वहीं दूसरी ओर वेद की भाषा अनेक प्रांतों मे पहुंचकर, उन-उन प्रान्तो की भाषाओं के साथ तादात्म्य स्थापित कर रही थी, जिसके फलस्वरूप भिन्न-भिन्न प्रान्तो की लोकभाषाओं को बल मिल रहा था। ये लोकभाषायें ही प्रान्तभेद से प्राकृत भाषाओं के रूप म विकसित हुईं। इन प्राकृत भाषाओं मे से मगध प्रान्त की लोक भाषा, जिसे 'प्राचीन मागधी' के नाम से जाना जाता है तथा जिसके माध्यम से तथागत ने अपने उपदेश जनसामान्य तक पहुंचाये 'बौद्धगण' का आश्रय लेकर 'पालि' के रूप म (मागधी भाषा से भिन्न) धार्मिक एव राष्ट्रीय भाषा बन गई। समकालीन इतर लोकभाषायें समुचित संरक्षण के अभाव म कालकवलित हो गयीं। इस प्रकार संस्कृत और पालि दोनों ही भाषायें वैदिक भाषा से प्रसूत समकालिक भाषाएं हैं जिनका विकास दो भिन्न भिन्न सम्प्रदायों म हुआ है। भरतसिंह

उपाध्याय के अनुसार इस युग में पालिभाषा के विकास के तीन स्तर देखे जा सकते हैं (क) पालि और अशोक की धर्मलिपियों की भाषा (५०० ई० पू० से प्रथम शती ई० पू०), (ख) प्राकृत भाषायें (१ से ५०० ई०), (ग) अपभ्रंश भाषायें (५०० ई० से १००० ई० तक)। आधुनिक युग में इन्हीं अपभ्रंश भाषाओं से हिन्दी तथा उसकी उप-बोलियाँ एवं मराठी, गुजराती, मालवी आदि प्रान्तीय भाषाओं का विकास हुआ है।

यह ऊपर कहा जा चुका है कि मगध प्रान्त की लोकभाषा 'बौद्धसंघ' का आश्रय पाकर ही 'मागधी से भिन्न 'पालि' के रूप में सामने आयी। इसका एकमात्र कारण था बौद्धसंघ में नाना देश, कुल और जाति के भिक्षुओं का एक साथ निवास तथा सभी को अपनी अपनी भाषा में बुद्धवचन सीखने के लिये तथागत की अनुज्ञा। फलतः पालि एक ऐसी मिश्रित भाषा बनी जिसमें अनेक बोलियों के तत्व संक्रमण कर गये। जबसे इस भाषा को 'धम्म मपरियाय' (भब्रू शिलालेख में—धमपलियायानि) अर्थात् 'बुद्धोपदेश की भाषा' के रूप में मान्यता मिली, तभी से इस भाषा के स्वतन्त्र विकास का इतिहास आरम्भ हो जाता है। भरतसिंह उपाध्याय ने इसके विकास क्रम की चार अवस्थायें दिखाई हैं—

१. त्रिपिटक की गाथाओं की भाषा—त्रिपिटक में आने वाली गाथाओं की भाषा 'पालिभाषा' का प्राचीनतम उपलब्ध रूप है। यह भाषा वैदिकभाषा के अत्यन्त निकट है। 'अनेकरूपता' इस भाषा की विशेषता है।

२. त्रिपिटक के गद्य की भाषा—इस भाषा का वास्तविक स्वरूप जातकों में देखा जा सकता है। गाथा-पालि की अपेक्षा इसमें एकरूपता, प्राचीन शब्दों के प्रयोग में कमी तथा नवीन शब्दों के प्रयोग की अधिकता है।

३. उत्तरकालीन पालि-गद्य की भाषा—यह गद्य अत्यन्त विकसित, उदात्त और कृत्रिमता से पूर्ण है। आलंकारिकता का साम्राज्य सर्वत्र दीख पड़ता है। बुद्धघोषकृत 'अट्ठकथा' का गद्य इसका सर्वोत्तम नमूना है।

४. उत्तरकालीन पालि-काव्य की भाषा—उत्तरकालीन पालि-काव्यों में प्रयुक्त इस भाषा को हम निष्प्राण 'मृतभाषा' कह सकते हैं, इसमें कोई नवीनता नहीं है। लेखकों की प्रवृत्ति इतनी उत्तुंग रही है कि उन्होंने कहीं तो एकदम प्राचीन रूपों को अपनाया है तो कहीं संस्कृत शब्दों पर ही पालि का

विभक्ति हटाकर काम चलाया है। महावंस, दीपवंस जैसे ग्रन्थों में संस्कृत का प्रभाव स्पष्ट है।

उपर्युक्त प्रभेदों के अतिरिक्त पालिभाषा का एक और स्वरूप सूत्र-साहित्य में मिलता है। इसके भी दो उपभेद किये जा सकते हैं—(क) सुत्तपिटक की भाषा और (ख) कच्चान, मोग्गल्लान, सद्दनीति आदि व्याकरण ग्रन्थों के सूत्रों की भाषा। सुत्तपिटक की भाषा सरल और सहज है, इसमें कृत्रिमता की गन्ध तक नहीं है। प्रत्येक सुत्त के प्रारम्भ में स्थान-पात्र-अवसर आदि का पूर्ण विवरण रहता है। सुत्त गद्य, पद्य दोनों में हैं। इन सुत्तों की शैली के सम्बन्ध में भिक्षु जगदीश काश्यप का मत है" जैसे सूत के गोले को फेंकने से वह उधरता हुआ बढ़ता जाता है, वैसे ही पालि के सुत्तों को पढ़ने में आगे के वाक्य स्वयं जीभ पर आने लगते हैं। शायद इसीलिये इस भाषा-शैली को 'तन्ति'=तन्ती=सूत कहते हैं।"[1] व्याकरण सम्बन्धी सूत्रों की भाषा तथा शैली—दोनों पर पाणिनि का प्रभाव स्पष्ट है। जिस प्रकार पाणिनि वैदिक भाषा से सम्बन्धित विवेचन के अवसर पर 'बहुलम्' नाम व्यत्यय, क्रिया व्यत्यय' कहकर चलते बने यहाँ भी वही परम्परा प्रचलित है। यही नहीं, व्याकरण का पूरा का पूरा ढाँचा पाणिनि के पैटर्न पर है। सुत्त, धातु गण, ण्वादि, लिंगानुशासन सभी कुछ संस्कृत के वैयाकरणों से उधार लिया गया है।

पालि के विकृतरूप—बौद्धधर्म के प्रसार के साथ साथ पालिभाषा का भी भिन्न-भिन्न प्रान्तों में व्यापक प्रचार हुआ। पर, लोकभाषा होने के कारण वह एक रूप को प्राप्त न कर सकी। भिन्न-भिन्न प्रान्तों में तत्तद् प्रान्तीय बोलियों का प्रभाव इस भाषा पर इतना पड़ा कि अशोक के समय तक आते-आते इसके अनेक विकृत रूप' प्रचलन में आने लगे। अशोक के एक शिलालेख की भाषा को लीजिये जिसमें पूर्व, पश्चिम और उत्तर भेद से पाठ की अनेकरूपता कितनी स्पष्ट है—

जौनगढ़ (पूर्व) का शिलालेख

'इय[1] धम्मलिपि[2] खपिंगलसि पवतसि देवान[3] पियेन[4] लाजिना[5] लिखा-

१ पालिमहाव्याकरण, पृ० ४६।

पिता[6] । हिद[7] नो किछि[8] जीव[9] आलभितु[10] पजोहितविये[11], ना[illegible]
समाज[12] कटविये[13] ।"

गिरिनार (पश्चिम) का शिलालेख

"इय[1] धमलिपी[2] देवान[3] प्रियेन[4] प्रियदसिना[5] राजा[6] लेखापिता[7] । इध[8] न किंचि[9] जीव[10] आरभित्पा[11] प्रजूहितव्य[12] । न च समाजो[13] कतव्यो[14] ... ।"

मनसेहर (उत्तर) का शिलालेख

'अयि[1] धमदीपि[2] देवेन[3] प्रियन[4] प्रियद्रशिन[5] राजिन[6] लिखपित[7] । हिद[8] नो किचि[9] जिवे[10] आरभितु[11] प्रयुहोतविय[12] । नो पिच समज[13] कटविय[14] ... ।"

कालान्तर मे इस भाषा पर तत्कालीन शिष्ट भाषा संस्कृत का इतना अधिक प्रभाव पड़ा कि पालि पालि न रहकर एक तरह से 'संस्कृत' ही बन गयी । पर अभी तक इसकी अनेकरूपता की आदत छूटी न थी । अत वह संस्कृत से भी अपना तादात्म्य स्थापित न कर सकी । महावस्तु ललितविस्तर आदि ग्रन्थों मे प्रयुक्त संस्कृत की ओढ़नी ओढ़े पालि भाषा को विद्वानो ने 'गाथा-संस्कृत' नाम दिया है । निम्न उदाहरण लीजिये जो न शुद्ध संस्कृत है और न शुद्ध पालि—

> यो शतानि सहस्राणा सग्रामे मनुजा जये ।
> यो चैक जये आत्मा नं स वै सग्रामजित वर ॥
> यत्किंचिदिष्ट च हुत च लोके सवत्सर यजति पुण्यप्रेक्षी ।
> सर्वं पि त न चतुर्भागमेति अभिवादन उज्जुगतेषु श्रेय ॥

पालि और प्राकृत—प्राकृत भाषाओ के विकास का इतिहास पालि भाषा के प्रान्तीयकरण की कहानी है । सभी साहित्यिक प्राकृतों का विकास पालि के बाद ही हो सका है । मागधी और अर्ध मागधी भाषायें अशोककालीन पूर्वी बोली से विकसित हुई । सभी जैन धर्मग्रन्थ अर्धमागधी भाषा में लिखे है इसीलिये इस भाषा को जैन मागधी भी कहा जाता है । यह भाषा त्रिपिटक पालि से घनिष्ट साम्य रखती है । शौरसेनी प्राकृत अशोककालीन पश्चिमी बोली से और पैशाची प्राकृत उत्तरी बोली से विकसित हुई है ।

मागधी, अर्द्धमागधी, अवन्ती, प्राच्या, शौरसैनी, वाल्हीक, दाक्षिणात्य, और पैशाची — सभी प्राकृत भाषायें किसी न किसी लोक भाषा से ही प्रसूत हुई हैं किन्तु इन्हीं प्राकृतों को ज्यों की त्यों लोक-भाषा मान लेना भ्रम होगा। "प्राकृत भाषायें वास्तव में कृत्रिम और काव्य की भाषायें हैं, क्योंकि इन भाषाओं को कवियों ने अपने काव्यों के काम में लाने के प्रयोजन से, बहुत तोड़-मरोड़ और बदल दिया। किन्तु वह इस अर्थ में तोड़ी-मरोड़ी हुई या कृत्रिम भाषायें नहीं हैं कि हम यह समझें कि वे कवियों की कल्पना की उपज हों। इनका ठीक वही हिसाब है जो संस्कृत का है, जो शिक्षित भारतीयों की सामान्य बोल चाल की भाषा नहीं है और न इसमें बोल-चाल की भाषा का पूरा आधार मिलता है, किन्तु अवश्य ही यह जनता के द्वारा बोली गयी किसी भाषा के आधार पर बनी थी और राजनैतिक या धार्मिक इतिहास की परम्परा के कारण यह भारत की सामान्य साहित्यिक भाषा बन गयी।[१]" इसके ठीक विपरीत 'पालि' लोकभाषा थी, यद्यपि उसे धार्मिक और राजनैतिक संरक्षण भी मिल गया था। वैसे, पालि और प्राकृत भाषायें संस्कृत की भांति 'पुराण युवती' नहीं हैं। उनका कुमारी, युवती वृद्धा-ये तीनों रूप उनके विकासक्रम में स्पष्ट देखे जा सकते हैं। यही नहीं, अन्त में ये भाषायें अपनी सन्तानों के रूप में अपने अस्तित्व को भी खो बैठी हैं। इसीलिये इनमें अनेक समानतायें दृष्टिगोचर होती हैं जैसे—

(१) ऋ और लृ वर्णों का प्रयोग दोनों में समान रूप से नहीं होता।

(२) ऐ और औ के स्थान पर ए और ओ का ही प्रयोग होता है।

(३) ऋ के स्थान पर अ, इ, उ में से कोई एक स्वर दोनों भाषाओं में समानरूप से व्यवहृत होता है।

(४) विसर्ग का पालि और प्राकृतों में कोई स्थान नहीं है।

---

१. रिचर्ड पिशल कृत 'कम्परेटिव ग्रामर आफ् दि प्राकृत लैंग्वेजज' का हिन्दी अनुवाद 'प्राकृत भाषाओं का व्याकरण' (अनु० हेमचन्द्र जोशी) पृष्ठ ८।

(५) श्, ष् के स्थान पर 'स्' का प्रयोग होता है। केवल मागधी में यह प्रवृत्ति दृष्टिगोचर नहीं होती।

(६) ज्ञ्, ण्य्, न्य के स्थान पर ञ्ञ् का प्रयोग पालि और प्राकृतों में समान रूप से होता है।

(७ सभी अकारान्त शब्द प्राय आकारान्त (कभी-कभी एकारान्त भी) हो जाते हैं।

(८) मूर्द्धन्य ध्वनि का दोनों ही में समान रूप से विद्यमान है।
(९) आकस्मिक वर्ण व्यत्यय इन भाषाओं की अन्य विशेषता है।
(१०) ल् के स्थान पर 'ळ' का प्रयोग देखने में आता है।

पालि का अपना स्वरूप—पालि और संस्कृत दोनों ही भाषायें यद्यपि सहोदरा और वैदिक भाषा से प्रसूता हैं तथापि पालि में वंशानुक्रम की दृष्टि से न तो वैदिक भाषा के ही सभी गुण आ सके हैं और न संस्कृत में ही वह पूर्ण साम्य रख सकी है। इसके ध्वनि-समूह में ऋ, ॠ, ऌ, ॡ, ऐ, औ और विसर्ग को कोई स्थान नहीं मिला। श् और ष् का भी बायकाट कर दिया गया है। हां, दो स्वरों के बीच में आने वाले 'ड्' का स्थान ळ् ने और ढ का ळ्ह ने ले लिया है। यह नियम अत्यल्प परिवर्तन के साथ वैदिक पालि और हिन्दी में समान रूप से दीख पड़ता है। हिन्दी में यह नियम ड़, ढ़ के रूप में प्रचलित है। संयुक्त व्यञ्जन 'ज्ञ्' के स्थान पर पालि में 'ञ्ञ्' ही प्रयुक्त होता है। जिह्वा मूलीय एवं उपध्मानीय ध्वनियां भी यहां देखने में नहीं आतीं। संस्कृत तथा वैदिक भाषा में तीन वचनों का प्रयोग होता है। एकवचन, द्विवचन, बहुवचन। पालि में द्विवचन को स्थान नहीं दिया गया। वहां उसका काम बहुवचन से ही ले लिया जाता है। यद्यपि पालि में भी सात ही विभक्तियां हैं, किन्तु चतुर्थी और षष्ठी विभक्तियों के रूप प्रायः समान होते हैं। यही हालत तृतीया और पञ्चमी के बहुवचन के रूपों की है। पालि में हलन्त शब्दों का प्रयोग बिल्कुल नहीं होता। यहां सभी शब्द स्वरान्त हैं। संस्कृत के दस गणों में से नौ और दस लकारों में से केवल आठ पालि में रह गये हैं। इसी प्रकार आत्मनेपद का प्रयोग पालि में नहीं के बराबर पाया जाता है। छन्द की रक्षा के लिए कभी कभी ह्रस्व का दीर्घ और दीर्घ का

ह्रस्व कर देना पालि की अपनी विशेषता है। संस्कृत वैयाकरणों को यह अनियमितता पसन्द नहीं आयी।

पालि साहित्य का संक्षिप्त परिचय

अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से हम समग्र पालि साहित्य को दो भागों में विभाजित कर सकते हैं—आर्ष एव अनार्ष। आर्षवाङ्मय के अन्तर्गत तथागत के स्वयं के वचन हैं जिनका संकलन त्रिपिटक में किया गया है। त्रिपिटक से भिन्न सभी प्रकार के पालि साहित्य को अनार्ष या लौकिक साहित्य की संज्ञा दी जा सकती है, क्योंकि इसके प्रणेता वे बौद्ध भिक्षु रहे हैं जो 'सम्मासम्बुद्ध' के 'पद' से अभी बहुत दूर थे।

त्रिपिटक—बौद्ध धर्म के मूल एव प्रामाणिक ग्रन्थ त्रिपिटक ही हैं। त्रिपिटक का अर्थ है—'तीन पिटारियाँ'। भगवान् बुद्ध के सभी उपदेश इन्हीं तीन पिटारियों में सुरक्षित हैं। विषय विभाग की दृष्टि से इन ३ पिटारियों के नाम हैं—सुत्तपिटक, विनय पिटक और अभिधम्म पिटक।

भगवान बुद्ध के सारे उपदेश मौखिक थे उनके शिष्य भी उन्हें ज्यों का त्यों कण्ठस्थ कर लेते थे। कुछ विद्वानों का अनुमान है कि शिष्यगण भगवान् के उपदेशों को कण्ठस्थ करने की सुविधा के लिए पद्यबद्ध कर लेते थे। पर, यह उनका भ्रम है। यदि ऐसा होता तो सारा त्रिपिटक गाथाबद्ध होता। वैसे इस सम्भावना से भी इन्कार नहीं किया जा सकता कि तथागत ने ही लोगों की सुविधा के लिये और अपने वाक्यों के स्थायित्व के लिये भी भिन्न भिन्न अवसरों पर दिये गये उपदेशों का सार गाथाबद्ध कर दिया हो। क्योंकि धर्म-प्रचार का सबसे उत्तम साधन सामान्य जनता द्वारा बोली जाने वाली भाषा की कविता ही हो सकती थी। इस प्रकार सूत्र अथवा गाथा का उच्चारण कर तथागत स्वयं ही उसका भाष्य भी कर देते होंगे। अतः सूत्र, गाथा, गद्य—सभी में उनके मूल वचनों की सम्भावना की जाती है। तथागत कण्ठस्थ किये हुए उपदेश वाक्यों को यदा कदा शिष्यों से पूछ भी बैठते थे। स्वयं त्रिपिटक में इस बात के अनेक प्रमाण मिलते हैं। उदाहरण के लिये एक बार सोण नामक भिक्षु से तथागत ने पूछा 'कहो भिक्षु ! तुमने धर्म को कैसे समझा

है ?' भिक्षु ने सोलह अष्टक वर्गों को पूरी तरह से सस्वर सुना दिया। तथागत ने शाबाशी देते हुये कहा 'साधु भिक्षु ! सोलह अष्टक वर्गों को तुमने भली-भांति याद कर लिया है, भली प्रकार से धारण कर लिया है। तुम्हारे कहने का ढंग बड़ा अच्छा है, स्पष्ट, निर्दोष और अर्थ को स्पष्ट कर देने वाला है।" भिक्षु संघ में इस प्रकार बुद्ध-वाक्यों को धारण करने वाले आदर और प्रशंसा के पात्र होते थे। त्रिपिटक में अनेक स्थलों पर बहुस्सुता, आगतागामा, धम्मधरा, विनयधरा मातिकाधरा विशेषण ऐसे ही व्यक्तियों के लिये प्रयुक्त हुये हैं।

बौद्ध धर्म के बढ़ते हुये प्रभाव के कारण सम्मान, ऐश्वर्य की लालसा से अनेक अवीतराग भिक्षु (प्रच्छन्न बौद्ध) तत्कालीन संघ में प्रवेश कर चुके थे। तथागत के परिनिर्वाण के सातवें दिन ही सुभद्र भिक्षु कहता हुआ सुना गया 'अलं आवुसो मा सोचित्थ मा परिदेवित्थ। सुमुत्तामयं तेन महासमणेन। उपद्दुता च होम: इदं वो कप्पति, इदं वो न कप्पती। इदानि पन मयं यं इच्छिस्साम तं करिस्साम। यं न इच्छिस्साम तं न करिस्साम।' अर्थात् 'बस आयुष्मनों शोक मत करो। मत विलाप करो। हम उस महाश्रमण से अच्छी तरह मुक्त हो गये। वह हमें सदा ही पीड़ित करता था कि यह तुम्हें विधेय है, यह तुम्हें अविधेय है। अब हम जो चाहेंगे करेंगे, जो नहीं चाहेंगे नहीं करेंगे। वृद्ध सुभद्र का यह कथन तथागत के प्रिय शिष्यों और भिक्षुओं का निस्सन्देह मर्मच्छेदक लगा होगा। इसीलिये तो विवश होकर आर्य महाकाश्यप को यह प्रस्ताव रखना ही पड़ा 'पुरे अधम्मो दिप्पति, धम्मो पटिबाहियति। अविनयो दिप्पति, विनयो पटिबाहियति। हन्द, मयं आवुसो धम्मं च विनयं च सगायाम' अर्थात् "आज हमारे सामने अधर्म बढ़ रहा है, धर्म का ह्रास हो रहा है। अविनय बढ़ रहा है। विनय का ह्रास हो रहा है। आओ आयुष्मानो! हम धर्म और विनय का सगायन करें।' आर्य महाकाश्यप के इसी प्रस्ताव पर धर्म और विनय सम्बन्धी बुद्ध वचनों का सगायन करने के उद्देश्य से एक सभा बुलायी गयी। चुल्लवग्ग के अनुसार यह सभा बुद्ध के परिनिर्वाण के चौथे महीने में राजगृह की सप्तपर्णी गुहा में ५०० भिक्षुओं की

उपस्थिति में सम्पन्न हुई। आर्य महाकाश्यप ने सभापतित्व ग्रहण करने के उपरान्त उपालि से विनय-सम्बन्धी और आनन्द से धर्म-सम्बन्धी प्रश्न पूछे। उनके द्वारा दिये गये उत्तरों का सारी सभा ने समर्थन किया। बौद्ध-इतिहास में इसे 'प्रथम संगीति' के नाम से जाना जाता है। इस प्रथम संगीति में ही धम्म और विनय का संकलन किया गया। बुद्धघोष के अनुसार 'अभिधम्म' का भी संगायन प्रथम संगीति में ही हुआ था।

कालान्तर में भिक्षु-संघ पुनः ईर्ष्या, असूया आदि दोषों के सम्पर्क में आने लगा। विनय के सम्बन्ध में अनेक उग्र विवाद उठ खड़े हुए। उनके निर्णय के लिये ठीक १०० वर्ष बाद पुनः एक संगीति वैशाली में महास्थविर रेवत के सभापतित्व में बुलायी गयी। इस संगीति में ७०० भिक्षुओं ने धर्म तथा विनय का संगायन किया। बुद्धघोष के मतानुसार बुद्धवचनों का वर्गीकरण (तीन पिटक, पांच निकाय, नौ अंग तथा ८४००० धर्म स्कन्धों के रूप में) इसी संगीति में सम्पन्न हुआ।

तथागत के परिनिर्वाण के २३६ वर्ष बाद पाटलिपुत्र में अशोक की प्रेरणा से तीसरी संगीति बुलाई गयी। इस संगीति के दो उद्देश्य थे—पहला, बौद्धसंघ में से नकली बौद्धों का निष्कासन और दूसरा, बुद्ध-वाक्यों का प्रकाशन। तिस्स मोग्गलिपुत्त थेर के सभापतित्व में नौ मास तक अनेक भिक्षुओं ने बुद्ध वचनों का संगायन कर उनका स्वरूप निश्चित कर दिया। इन्हीं दिनों में तिस्स-मोग्गलिपुत्त ने मिथ्यावादि बौद्धों के मतों का खण्डन करने के लिए 'कथा-वत्थु' की रचना की। इस ग्रन्थ को इस संगीति में 'अभिधम्मपिटक' के अन्तर्गत स्वीकार कर लिया गया।

इन तीन बैठकों में 'त्रिपिटक' का संकलन पूरा हुआ। विद्वानों का अनुमान है कि यह संकलन मौखिक रूप में ही सम्पन्न हुआ। सम्राट अशोक के पुत्र कुमार महेन्द्र ने लंका में जाकर त्रिपिटक का प्रचार किया। फलतः वहां भी एक महाविहार की स्थापना हुई और त्रिपिटक का पठन-पाठन सौ-दो सौ वर्षों तक मौखिक परम्परा से ही चलता रहा। ८८—७६ ई० पू० में लंका नरेश वट्टगामणी ने समस्त त्रिपिटक को लिपिबद्ध करा कर उसे हमेशा के लिये एक निश्चित स्वरूप प्रदान कर दिया।

सुत्तपिटक—सुत्तपिटक में बौद्धधर्म के सिद्धान्तों का सरल और सहज रीति शैली में वर्णन है। तत्कालीन साहित्य के नौ अंगों का उल्लेख सुत्तपिटक में प्राप्त होता है। ये नौ अंग हैं—

(१) सुत्त—तथागत द्वारा दिये गये धार्मिक उपदेश जिनका संकलन गद्य में हुआ है।

(२) गेय्य—गद्य पद्य में संकलित उपदेश।

(३) वेय्याकरण—व्याख्या या भाष्य।

(४) गाथा—उपदेशों का पद्यबद्ध संकलन।

(५) उदान—भावविभोर सन्तों के मुख से सहज में प्रस्फुटित वाक्य।

(६) इतिवुत्तक—तथागत की छोटी मोटी उक्तियों का संकलन।

(७) जातक—तथागत के पूर्वजन्मों से सम्बन्धित कथायें।

(८) अब्भुतधम्म—यौगिक सिद्धियों का वर्णन।

(९) वेदल्ल—प्रश्नोत्तर शैली में लिखे गये वाक्य।

सुत्तपिटक पांच निकायों में विभक्त किया गया है जिनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

१ दीघनिकाय—इस निकाय में लम्बे-लम्बे सुत्तों का संग्रह किया गया है इसीलिए इस संग्रह का नाम दीघनिकाय रखा गया है। तथागत के जीवन के अन्तिम दिनों का पूरा इतिहास इसी के महापरिनिब्बान सुत्त में मिलता है। इस निकाय को भी तीन उपभागों—सीलक्खन्धवग्ग महावग्ग और पाटिकवग्ग में बांटा गया है। सीलक्खन्धवग्ग में ब्रह्मजाल, सामञ्ञफल, अम्बट्ठ, सोणदण्ड, कूटदन्त, महालि, जालिय, कस्सपसीहनाद, पोट्ठपाद, सुभ, केवट्ट, लोहिच्च और तेविज्ज—तेरह सुत्त, महावग्ग में महापदान, महानिदान, महापरिनिब्बान, महासुदस्सन, जनवसभ, महागोविन्द, महासमय, सक्कपञ्ह, महासतिपट्ठान और पायासि—दस सुत्त और पाटिकवग्ग में पाटिक, उदुम्बरिक सीहनाद, चक्कवत्तिसीहनाद, अग्गञ्ञ, सम्पसादनिय, पासादिक, लक्खण, सिगालोवाद, आटानाटिय, संगीति और दसुत्तर—ग्यारह सुत्त हैं। इस प्रकार दीघनिकाय में कुल तीन वग्ग और चौंतीस सुत्त हैं।

२. मज्झिम निकाय—न छोटे, न बड़े मध्यम श्रेणी के सुत्तों का संग्रह मज्झिम निकाय के नाम से जाना जाता है। इसमें १५२ सुत्त हैं जिन्हें विषय के हिसाब से निम्नलिखित पन्द्रह वर्गों में विभक्त किया गया है—

मूलपरियाय वग्ग, सीहनाद वग्ग, ओपम्म वग्ग, महायमक वग्ग, चूलयमकवग्ग, गहपतिवग्ग, भिक्खु वग्ग, परिब्बाजकवग्ग, राजवग्ग, ब्राह्मण वग्ग, देवदह वग्ग, अनुपद वग्ग, सुञ्ञता वग्ग, विभंगवग्ग और सळायतन वग्ग।

३ खुद्दक निकाय—इसमें छोटे-छोटे सुत्तों का संग्रह है। वास्तव में यह छोटे छोटे पन्द्रह बौद्ध ग्रन्थों का एक संकलन मात्र है। प्रत्येक ग्रन्थ अपने में स्वतन्त्र है। ये पन्द्रह ग्रन्थ हैं—खुद्दक पाठ, धम्मपद, उदान, इतिवुत्तक, सुत्त-निपात, विमानवत्थु, पेतवत्थु, थेर गाथा, थेरी गाथा, जातक, निद्देस, पटि-सम्भिदामग्ग, अपदान, बुद्धवंस, चरियापिटक।

४. संयुत्त निकाय—छोटे बड़े दोनों ही प्रकार के सुत्तों का यह मिश्रित संकलन है। संयुत्त निकाय में कुल ५६ संयुत्त (मिश्रित सूत्र) हैं जिन्हें विषय की दृष्टि से पांच वर्गों में विभाजित किया गया है। पांच वर्ग हैं—सगाथ वग्ग, निदान वग्ग, खन्ध वग्ग, सळायतन वग्ग, महावग्ग। इनमें पहले वग्ग में ११, दूसरे में १०, तीसरे में १३, चौथे में १० और पांचवें वग्ग में १२ संयुत्त हैं।

५. अंगुत्तर निकाय—अंगुत्तर निकाय ११ निपातों में विभक्त है। प्रत्येक निपात का नाम उसमें निर्दिष्ट बुद्धोपदेशों की संख्या से सम्बद्ध है। एकक, दुक, तिक, चतुक्क, पंचक, छक्क, सत्तक, अट्ठक, नवक, दसक, और एकादसक —ये ११ निपात हैं। एक-एक धर्म का प्रतिपादन करने वाले सुत्त एकक निपात में और दो-दो धर्मों के प्रतिपादक सुत्त दुक निपात में—इसी प्रकार अन्य निपातों में भी संगृहीत हैं।

विनयपिटक—भिक्षु संघ के नियमित सञ्चालन के उद्देश्य से तथागत ने समय-समय पर विनय सम्बन्धी जो उपदेश भिक्षुओं, गृहस्थों आदि को दिये उन्हीं उपदेशों का संकलन विनय पिटक में किया गया है। इसकी शिक्षाओं का क्षेत्र बहुत विशाल है। तथागत की दृष्टि से मानव का कोई भी ऐसा कृत्य

नहीं बचा जिसके लिये आवश्यक विधान उन्होंने न बताया हो। प्रव्रज्या की दीक्षा, शिष्य—आचार्य का पारस्परिक व्यवहार, उठना बैठना, खाना-पीना, भिक्षाटन करना, उपोसथ कर्म, यात्रा, निवास, वेश-भूषा, औषधि आदि से सम्बन्धित नियमों का विशद वर्णन विनयपिटक मे मिलता है। विनय पिटक का विषय-विभाजन इस प्रकार है—
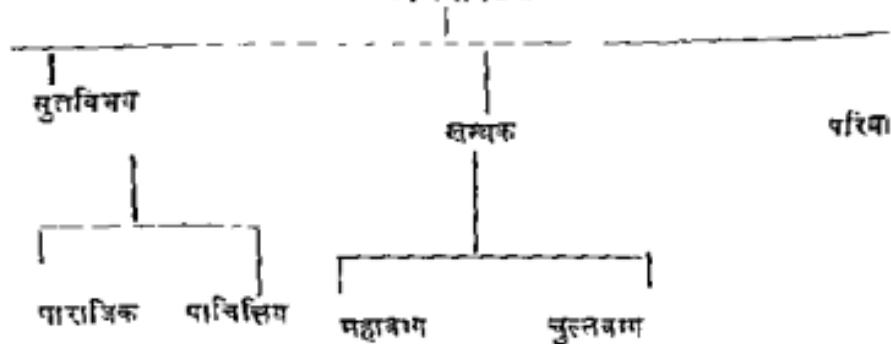
'पाराजिक' मे उन अपराधो का उल्लेख है जिनके करने पर संघ से निष्कासन की व्यवस्था है। 'पाचित्तिय' मे प्रायश्चित करने पर शुद्ध हो जाने वाले अपराधो का वर्णन है। अपराधो की कुल संख्या २२७ है। इनसे सम्बन्धित सभी नियमो को आठ भागो मे वर्गीकृत किया गया है—

(१) चार पाराजिक, (२) १३ संघादिसेस, (३) दो अनियमित धम्म (४) ३० निस्सग्गिया पाचित्तिया धम्मा, (५) ९२ पाचित्तिया धम्मा, (६) चार पटिदेसनिय धम्म, (७) ७५ सेखिया धम्म, (८) सात अधिकरण समथ धम्म।

'महावग्ग' मे इस बात का पूरा-पूरा वर्णन मिलता है कि 'संघ' मे जीवन चर्या कैसी होनी चाहिये? तथागत के बुद्धत्वलाभ से प्रथम संघ की स्थापना तक का इतिहास इसमे दिया गया है। विनयपिटक के प्रथम दस खन्धो का ही दूसरा नाम महावग्ग है।

चुल्लवग्ग मे १२ वग्ग हैं। प्रथम नौ वर्गो मे अनुशासन, पाप और उनका प्रायश्चित और भिक्षुओ के पातिमोक्ख सम्बन्धी नियमो का वर्णन है। १० वे

वर्ग में 'भिक्खुनी पातिमोक्ख' का और ग्यारहवें तथा बारहवें वर्ग में क्रमशः राजगृह तथा वैशाली की संगीतियों का वर्णन है।

'परिवार' में १६ वर्ग हैं। यह प्रश्नोत्तर शैली में लिखा गया है। इसे एक प्रकार से विनयपिटक का संक्षिप्त संस्करण' कहा जा सकता है।

अभिधम्म पिटक—अभिधम्म पिटक का विवेच्य विषय विशुद्ध आध्यात्मिक एवं दार्शनिक है। विज्ञान, संस्कार, संज्ञा, वेदना, निर्वाण आदि के सम्बन्ध में दार्शनिक गवेषणा की गयी है। अभिधम्मपिटक में निम्नलिखित सात ग्रन्थ संग्रहीत हैं—धम्मसंगणी, विभंग, धातुकथा, पुग्गलपञ्ञत्ति, कथावत्थु, यमक और पट्ठान।

यहां तक 'त्रिपिटक पालि' का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया गया। कालान्तर में सारे त्रिपिटक पर बुद्धघोष, धम्मपाल और बुद्धदत्त तथा अन्य बौद्ध पण्डितों ने भी अपने भाष्य लिखे। इन भाष्यों को बौद्धशास्त्रीय भाषा में 'अट्ठकथा' कहा जाता है। ४०० ई० से १००० ई० तक के लम्बे समय में लगभग एक दर्जन अट्ठकथाकारों ने 'त्रिपिटक' पर अपनी अपनी अट्ठकथायें लिखकर पालि-साहित्य के विकास में अद्भुत सहयोग दिया।

अट्ठकथा साहित्य के अतिरिक्त पालि में 'वंशसाहित्य' भी बहुत विशाल है। दीपवंश, महावंश, थूपवंश, महाबोधिवंश, धूरवंश, गन्धवंश, सासनवंश आदि ग्रन्थ प्रमुख हैं।

पालि में काव्य, व्याकरण, कोश, छन्द आदि से सम्बन्धित ग्रन्थों का भी प्रणयन हुआ। काव्यग्रन्थों में अनागतवंश, तेलकटाहगाथा, जिनालंकार, बुद्धालंकार, रसवाहिनी आदि ग्रन्थ प्रमुख हैं। कच्चान, मोग्गल्लान और अग्गवंश ने क्रमशः कच्चान व्याकरण (कच्चायन गन्ध), मागधसद्दलक्खण और सद्दनीति नामक व्याकरण ग्रन्थों की रचना की। पालि में मोग्गल्लान कृत अभिधानप्पदीपिका और सद्धम्मकित्ति कृत एकक्खरकोस दो कोशग्रन्थ भी उपलब्ध हैं। संघरक्खित कृत वुत्तोदय छन्दशास्त्र पर और सुबोधालंकार काव्यशास्त्र पर दो ही ग्रन्थ मिलते हैं।

इस विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि ईसा की १२ वीं शताब्दी तक पालि साहित्य की विभिन्न विधाओं पर रचनायें होती रही हैं।

धम्मपदं

'बौद्धगीता' के नाम से प्रसिद्ध 'धम्मपद' आकार की दृष्टि से यद्यपि छोटा सा ही ग्रन्थ है, फिर भी उसकी महनीयता और उपयोगिता समस्त बौद्धवाङ्मय मे सर्वोपरि समझी जाती है। इसमे केवल ४२३ गाथायें हैं जिन्हे विषय विभाग की दृष्टि से २६ वर्गों मे बाटा गया है। आचार्य विनोबा ने कर्मयोग, साधन और निष्ठा को आधार बनाकर इसके तीन भाग किये है। इन तीनो भागो को उन्होंने पुन छ-छ. अध्यायो मे इस प्रकार विभक्त किया है—

कर्मयोग	साधना	निष्ठा
↓	↓	↓
१. निरवैरता,	१ आत्मदमनम्,	१ बुद्ध-बौद्धाः
२ शीलम्,	२. देहानित्यत्वम्,	२ सद्धर्म
३ सत्सगति,	३. जागरूकता,	३. पण्डित
४ कर्म विपाक,	४. शोधनम्,	४ भिक्षु
५. नीति,	५. प्रज्ञायोगः,	५ अर्हम्
६ अनिन्दा	६ वितृष्णता,	६ ब्राह्मण

धम्मपद कोई स्वतन्त्र रचना नही है। यह सुत्तपिटक के खुद्दकनिकाय का दूसरा सकलित ग्रन्थ है। इसकी सारी गाथाये भगवान् बुद्ध के मुख से ही प्रस्फुटित हुई हो, ऐसी भी बात नही है। यह तो भारतीय मनीषियो के स्वानुभव पर निर्मित उक्तियो, सूक्तियो का पालि सस्करणमात्र है। कुछ गाथाये अवश्य ही स्वय तथागत की भी होगी। धम्मपद की ४४, ४५ गाथाओ से यह निष्कर्ष अनायास ही निकाला जा सकता है कि धम्मपद की गाथाये वस्तुत चयन किये फूलो के समान सकलित है। इसमे बहुत सी ऐसी गाथायें हैं, जो अविकल रूप मे केवल भाषा-परिवर्तन के साथ महाभारत, मनुस्मृति आदि सस्कृत ग्रन्थो मे भी पायी जाती है। इसलिये यह अनुमान लगा लेना गलत न होगा कि तथागत चुनी हुई सूक्तियो को 'धम्मपद' यह नाम देते थे। कोई भी 'प्रचारक' बहुप्रचलित एव अर्थगाम्भीर्य से युक्त सूक्तियो का आश्रय लेता ही है।

धम्मपद का सङ्कलन प्रथम सङ्गीति में ही सम्पन्न हो गया था। इसे लिपिबद्ध तो लंका नरेश वट्टगामणी (८८—७६ ई० पू०) के समय में मिला। तभी से उसका यही स्वरूप, जो आज हमें प्राप्त है, चला आ रहा है।

'धम्मपद' के शाब्दिक अर्थ के सम्बन्ध में भी विचार कर लेना अप्रासंगिक न होगा। *संस्कृत का धर्म शब्द अत्यन्त व्यापक है। 'धम्मपद' के अध्ययन से* ऐसा लगता है कि यहाँ 'धम्म' शब्द मनुस्मृति (१।१०८) के 'आचार परमो धर्म', वाक्य के साथ अपना कोई न कोई सम्बन्ध रखे हुये है। 'पद' शब्द मार्ग स्थान और वाक्य का वाचक है। इस प्रकार 'धम्मपद' का अर्थ हुआ 'सदाचार *का मार्ग' या सदाचार सम्बन्धी वाक्य।' हिन्दी 'पद' का अर्थ 'गेय पद' भी है जैसे कबीर के पद, सूरदास के पद।* अतः 'सदाचार सम्बन्धी पद' धम्मपद का यह अर्थ भी हो सकता है।

आचार्य बुद्धघोष से पूर्व 'धम्मपद' पर सिंहली भाषा में 'धम्मपदट्ठकथा' उपलब्ध थी। उन्होंने इसका पालि रूपान्तर किया। कौनसी गाथा किस स्थान पर, किस सम्बन्ध में किसे उपदिष्ट की गयी, इसका पूरा विवरण धम्मपदट्ठकथा में मिलता है। इन कथाओं की कुल संख्या ३०५ है।

धम्मपद की सर्वाधिक गाथायें जेतवन में कही गयी हैं। मैक्समूलर के अनुसार १८५ गाथायें जेतवन में और ४२ गाथायें राजगृह में कही गयी। इनके अतिरिक्त श्रावस्ती, पूर्वाराम, वेणुवन, कपिलवस्तु, न्यग्रोधाराम, वैशाली आदि न जाने कितने स्थानों पर ये गाथायें तथागत के मुख से प्रस्फुटित हुई हैं।

---

* नमो तस्स भगवतो अरहतो सम्मासम्बुद्धस्स *

१. यमकवग्गो पठमो

[स्थान—सावत्थी (श्रावस्ती), व्यक्ति—चक्खुपाल थेर]

१ मनोपुब्बंगमा धम्मा, मनोसेट्ठा मनोमया।
मनसा चे पदुट्ठेन, भासति वा करोति वा।
ततो नं दुक्खमन्वेति, चक्कं'व वहतो पदं॥

शब्दार्थ—मनोपुब्बगमा = अग्रगामी मस्तिष्क (या विचार या मन) वाले। धम्मा = धर्म गुण। मनोसेट्ठा = विचार या मस्तिष्क पर आश्रित हैं। मनोमया = विचार या मस्तिष्क से प्रादुर्भूत। चे = यदि। पदुट्ठेन मनसा = बुरे विचार या मन से। भासति = बोलता है। करोति = करता है। ततो = तब। न = उस व्यक्ति को। दुक्खमन्वेति = दुःख पीछा करता है। व = जैसे। वहतो = वहन करने वाले के। पद = पैर को। चक्क = पहिया।

अनुवाद—विचार सभी प्रकार के धर्मों के अग्रदूत हैं। सभी धर्म विचारो पर आश्रित हैं, विचारो से उत्पन्न हैं। यदि कोई बुरे विचार के साथ बोलता है या कोई काम करता है तो दुख उस व्यक्ति का पीछा उसी तरह करता है जैसे पहिया गाडी खीचने वाले बैल के पैर का पीछा करता है।

विशेष—इस पद की प्रथम पक्ति के अनुवाद के सम्बन्ध में विद्वानो में मतभेद दीख पड़ता है। D' Alwis ने अपनी पुस्तक Buddhist Nirvan मे इसका अर्थ इस प्रकार किया है— "Mind is the leader of all it's faculties. Mind is the chief (of all it's faculties). The very mind is made up of those (faculties)." पाश्चात्य विद्वान् Childers द्वारा प्रणीत पालिकोष (पृष्ठ १२०) से ज्ञात होता है कि पाच खन्धो म से वेदना सञ्ञा (सज्ञा) और सखार— इन तीनो को सम्मिलित रूप से 'धम्मा' कहा गया है। D' Alwis के Faculties शब्द मे इन्ही तीन खन्धो का बोध होता है। एक अन्य स्थल पर उन्होने लिखा है "Of the four mental Khandhas the superiority of

---

१ चक्क + इव। अनुस्वार के बाद आने वाले स्वर का लोप।

विज्ञान s strongly asserted in the first verse of धम्मपद, The mental faculties (Vedna, Sanna and Sankhara) are dominated by Mind, they are governed by Mind they are made up of Mind" फासबाल ने भी इसी अर्थ को सही माना है। लेकिन Max-Muller ने 'All that we are is the result of what we have thought" अर्थ किया है।

टिप्पणी—गीता में भी इसी प्रकार का एक वाक्य मिलता है—

'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।

[स्थान—सावत्थी व्यक्ति मट्ठकुण्डली]

२ मनोपुब्बङ्गमा धम्मा, मनोसेट्ठा मनोमया।
मनसा चे पसन्नेन, भासति वा करोति वा।
ततो न सुखमन्वेति, छाया व अनपायिनी'[1] ॥२॥

शब्दार्थ—पसन्नेन मनसा = पवित्र मन से। छाया व अनपायिनी = दूर न पहुंचाने वाली छाया के समान। भिक्षु सर्वों द्वारा सम्पादित 'महाकर्मविभंग' में इसकी संस्कृत छाया 'छाया वा अनुयायिनी' दी गयी है जिसका अर्थ है अनुसरण करने वाली छाया के समान। Max-Muller ने भी 'like a shadow that never leaves him' अनुवाद कर इसी पाठ को माना है। लेकिन पूर्व पद के प्रसंग में इसे देखने पर 'अनपायिनी' पाठ ही समीचीन लगता है।

अनुवाद—विचार सभी प्रकार के धर्मों के अग्रदूत हैं। सभी वस्तु विचारों पर आश्रित हैं विचारों से उत्पन्न हैं। यदि कोई पवित्र मन (विचार) से बोलता है या कार्य करता है तो सुख उस व्यक्ति का कष्ट न पहुंचाने वाली छाया के समान अनुगमन करता है।

[स्थान—जेतवन (सावत्थी) व्यक्ति—थुल्लतिस्स थेर]

३ अक्कोच्छि मं अवधि मं, अजिनि मं अहासि मे।
ये च तं उपनय्हन्ति, वेरं तेसं न सम्मति ॥३॥

शब्दार्थ—अक्कोच्छि = गाली दी (क्रुश धातु से न कि क्रुध से)। म—

1. स्या०—अनुपायिनी।

मुभको । अवधि = पीटा । अजिनि = पराजित किया । अहासि = लूट-पाट की । मे = मेरी । ये त उपनय्हन्ति = ये, जो (प्रतिशोध की भावना को) आश्रय देते हैं (नह–बन्धन धातु से) । तेस = उनकी । वेर = शत्रुता । न सम्मति = शान्त नहीं होती ।

अनुवाद—उसने मुझे गाली दी थी, उसने मुझे पीटा था, उसने मुझे पराजित किया था, उसने मेरी लूट-पाट की थी—इस प्रकार की (प्रतिशोध की) भावना को जो आश्रय देते हैं उनकी शत्रुता कभी शान्त नहीं होती ।

४. अक्कोच्छि मं अवधि मं, अजिनि मं अहासि मे ।
ये तं न उपनय्हन्ति[१], वेरं तेसूपसम्मति ॥४॥

शब्दार्थ—तेसु = उनमें । उपसम्मति = शान्त हो जाता है (स० उपशम्यति

अनुवाद—उसने मुझे गाली दी थी, उसने मुझे पीटा था, उसने मुझे पराजित किया था, उसने मेरी लूट पाट की थी—इस प्रकार की (प्रतिशोध की) भावनाओं को जो आश्रय नहीं देते उनकी शत्रुता (बिलकुल) शान्त होजाती है ।

[स्थान—जेतवन (सावत्थी), व्यक्ति—काळीयक्खिनी]

५. न हि वेरेन वेरानि, सम्मन्तीध कुदाचन ।
अवेरेन च सम्मन्ति, एस धम्मो सनंतनो ॥

शब्दार्थ—सम्मन्तीध = यहाँ शान्त होते हैं । कुदाचनं = कभी । एस = यह । सनंतनो = सनातन या शाश्वत ।

अनुवाद— यहाँ (इस संसार में) वैर से वैर कभी शान्त नहीं होते अपितु अवैर (अर्थात् प्रेम) से ही शान्त होते हैं । यही शाश्वत नियम है ।

[स्थान—जेतवन (सावत्थी), व्यक्ति—कोसम्बक भिक्खु]

६. परे च न विजानन्ति, मयमेत्थ यमामसे[२] ।
ये च तत्थ विजानन्ति, ततो सम्मन्ति मेधगा ॥ ३ ॥

शब्दार्थ—परे = अन्य । Max-Muller ने इसका अर्थ The World और P. L. Vaidya ने The other (Than the learned) किया

---

१ ना०—य च त नुपनय्हन्ति ।

२. वर्तमान काल में उत्तम पुरुष का बहुवचन आत्मनेपदीय यम् धातु का प्राचीन रूप । Max-Muller इसे वैदिक लेट् का पालि रूप मानते हैं ।

है। न विजानन्ति = नहीं जानते हैं। मय = हम। एत्थ = यहां। यमामसे = नष्ट हो रहे हैं अर्थात् जीवन को व्यर्थ ही नष्ट कर रहे हैं। तत्थ = तथ्य या वास्तविकता। मेधगा = दोष या कलह (वैदिक मिथ् धातु से पालि में आया हुआ शब्द)।

अनुवाद—दूसरे (अबोध) लोग नहीं जानते कि हम उस संसार में नष्ट हो रहे हैं। पर, जो इस तथ्य को जान लेते हैं उनके सभी दोष तत्काल शान्त हो जाते हैं।

[स्थान—सावत्थी, व्यक्ति—चुल्लकाल, महाकाल]

७. सुभानुपस्सिं विहरन्तं, इन्द्रियेसु असंवुतं।
भोजनम्हि अमत्तञ्ञुं[1], कुसीतं हीनवीरियं।
तं वे पसहति मारो, वातो रुक्खं' व दुब्बलं ॥ ७ ॥

शब्दार्थ—सुभानुपस्सिं = लौकिक मंगल की सोचने वाले को (सुभं अनुपस्सतीति सुभानुपस्सी)। विहरन्तं = विहार करते हुए को। असंवुतं = असंयमी को। अमत्तञ्ञुं = सही मात्रा (मत्ता) न जानने वाले को। कुसीतं = आलसी को। पसहति = उखाड़ फेंकता है, झकझोर देता है। मारो = मोह में फंसा कर मारने वाला मार। वातो = वायु। रुक्खं = वृक्ष को। दुब्बलं = दुर्बल को।

अनुवाद—जिस प्रकार वायु कमजोर वृक्ष को उखाड़ फेंकता है, उसी प्रकार मार लौकिक मंगल की सोचने वाले, विहार करने वाले, इन्द्रियों के सम्बन्ध में असंयमी, भोजनादि की सही मात्रा न जानने वाले, आलसी और हीन पराक्रम वाले व्यक्ति को झकझोर देता है।

८. असुभानुपस्सिं विहरन्तं, इन्द्रियेसु सुसंवुतं।
भोजनम्हि च मत्तञ्ञुं, सद्धं आरद्धवीरियं।
तं वे न पसहति मारो, वातो सेलं' व पब्बतं ॥ ८ ॥

शब्दार्थ—असुभानुपस्सिं = लौकिक मंगल की न सोचने वाले। सुसंवुतं = सुसंयमी को। सद्धं = श्रद्धावान् को। आरद्धवीरियं = निर्वाण प्राप्त्यर्थ उद्योग प्रारम्भ कर देने वाले को। नप्पसहति = नहीं उखाड़ पाता या व्यग्र नहीं कर पाता। सेलं' व पब्बतं = शिलाओं से युक्त पर्वत की भाँति।

---

१. मा०—चामत्तञ्ञुं।

अनुवाद—जिस प्रकार शिलाओं से युक्त पर्वत को वायु उखाड नहीं पाता उसी प्रकार (केवल) लौकिक मंगल को न सोचकर विहार करने वाले, इन्द्रियों के सम्बन्ध में संयमी, भोजनादि की सही मात्रा जानने वाले, श्रद्धावान् एवं निर्वाण प्राप्त्यर्थ उद्योग प्रारम्भ कर देने वाले व्यक्ति को 'मार' व्यग्र नहीं कर पाता।

[स्थान—जेतवन (सावत्थी), व्यक्ति—देवदत्त]

९ अनिक्कसावो कासावं, यो वत्थं परिदहेस्सति ।
अपेतो दमसच्चेन, न सो कासावमरहति ॥ ९ ॥

शब्दार्थः—**यो** = जो **अनिक्कसावो** = अपवित्र (बिना चित्तकेमलों को हटाये हुए)। **कासाव** = गेरुआ। **वत्थं** = वस्त्र। **परिदहेस्सति** = पहिनता है (परि + धा का पालिरूप)। **अपेतो** = दूर। **दमसच्चेन** = दम और सत्य से। **अरहति**-योग्य।

अनुवाद:—जो व्यक्ति चित्तकेमलों को हटाये बिना ही गेरुआ वस्त्र पहिनता है और जो दम तथा सत्यसे युक्त नहीं है, वह गेरुआ वस्त्र धारण करने के योग्य नहीं है।

विशेष:—इसी आशय का एक श्लोक महाभारत के शान्ति पर्व से फॉसबोल ने उद्धृत किया है—

"अनिष्कषाये काषाय ईहार्थमिति विद्धि तम्।
धर्मध्वजानां मुण्डानां वृत्त्यर्थमिति मे मतिः ॥ १८ । ३ । ४

दम—आत्म-संयम "निग्रहो बाह्यवृत्तीनां दम इत्यभिधीयते" गीता १०-४। अथवा बुरे कामों से मन को रोकना—"कुत्सितात्कर्मणो विप्र यच्च चित्तनिवारणं स कीर्तितो दमः।"

१०. यो च वन्तकसावस्स, सीलेसु सुसमाहितो ।
उपेतो दमसच्चेन, स वे कासावमरहति ॥ १० ॥

शब्दार्थ—**वन्तकसावस्स** = अपवित्र वमन किया हुआ हो (**वन्त** = वमन, **कसावो** = काषाय, अपवित्र वा, येन सो वन्तकसावो = अपवित्रवमनस्रावः, **अस्स** = स्यात्) **उपेतो** = युक्त। **वे** = संस्कृत 'वै' का पालिरूप।

अनुवाद.—जिसने सभी दुराचरणों को वमन किये हुये अपवित्र पदार्थ की भाँति त्याग दिया है, सद्गुणों में अच्छी तरह संलग्न है तथा आत्मसंयम और सत्य से युक्त है वही निश्चित रूप से काषाय वस्त्र धारण करने के योग्य है।

[स्थान—राजगृह (वेणुवन), व्यक्ति—संजय (अग्रश्रावक)]

११. असारे सारमतिनो, सारे चासारदस्सिनो ।
ते सारं नाधिगच्छन्ति, मिच्छासकप्पगोचरा ॥ ११ ॥

शब्दार्थ —असारे = असत्य मे । सारमतिनो = सद्बुद्धि वाले । सारे = सत्य मे । असारदस्सिनो = असत् देखने वाले । सार = सत्य को । नाधिगच्छन्ति — प्राप्त नही कर पाते । मिच्छासकप्पगोचरा — असद् इच्छाओं का अनुसरण करने वाले ।

अनुवाद —जो असत् मे सद्बुद्धि वाले और सद् मे असत् देखने वाले हैं तथा जो असद् इच्छाओं का अनुसरण करने वाले हैं, वे सत्य को प्राप्त नही कर पाते ।

विशेष —Max-Muller ने 'मिच्छासकप्पगोचरा' को स्वतन्त्र पद मान कर इसका अर्थ 'वे तत्त्व तक नही पहुँच पाते बल्कि असद इच्छाओं का ही अनुसरण करते हैं (Never arrive at truth, but follow vain desires) किया है ।

१२ सारं च सारतो ञत्वा, असारं च असारतो ।
ते सारं अधिगच्छन्ति, सम्मासकप्पगोचरा ॥ १२ ॥

शब्दार्थ —सारतो = सत्य रूप में । ञत्वा = जानकर । असारतो — असत् रूप से । सम्मासकप्पगोचरा = सम्यक संकल्प वाले ।

अनुवाद —सत् को सद् रूप से और असत् को असद् रूप में जानकर सम्यक संकल्प वाले वे व्यक्ति सत्यतत्त्व को प्राप्त करते हैं ।

[स्थान—जेतवन (सावत्थी) व्यक्ति—नन्द थेर]

१३ यथा अगारं दुच्छन्नं, वुट्ठि[1] समतिविज्झति ।
एवं अभावितं चित्तं, रागो समतिविज्झति ॥ १३ ॥

शब्दार्थ —अगारं = मकान । दुच्छन्नं = अच्छी तरह न ढके हुए । वुट्ठि = वर्षा । समतिविज्झति — तोडकर प्रवेश करती है । अभावित — अशोभित । चित्त = मन या मस्तिष्क ।

अनुवाद —जिस प्रकार वर्षा (का जल) अच्छी तरह से न ढके हुए

[1] ना०—वुट्ठि ।

मकान को तोड़कर (अन्दर) प्रवेश कर जाता है, उसी प्रकार राग अदीक्षित (असंस्कारित) मस्तिष्क (या मन) में प्रविष्ट हो जाता है।

१४. यथा अगारं सुच्छन्नं, वुट्ठि न समतिविज्झति ।
एवं सुभावितं चित्तं, रागो न समतिविज्झति ॥१४॥

शब्दार्थः—सुच्छन्नं = अच्छी तरह ढके हुये । सुभावितं = सुसंस्कारित ।

अनुवादः—जिस प्रकार अच्छी तरह ढके हुये मकान में वर्षा (का जल) उसे तोड़कर (अन्दर) नहीं प्रवेश कर पाता उसी प्रकार भलि-भाँति संस्कारित चित्त में राग प्रविष्ट नहीं हो पाता।

[स्थान—राजगृह (वेणुवन) व्यक्ति—चुन्दसूकरिक]

१५. इध सोचति पेच्च[1] सोचति, पापकारी उभयत्थ सोचति ।
सो सोचति सो विहञ्ञति, दिस्वा कम्मकिलिट्ठमत्तनो ॥१५॥

शब्दार्थ.—इध = यहाँ अर्थात् इस लोक में । सोचति = शोक करता है । पेच्च = परलोक में । उभयत्थ = उभयत्र अर्थात् दोनों लोकों में । विहञ्ञति = नष्ट होता है । दिस्वा = देखकर । कम्मकिलिट्ठमत्तनो = अपने कर्मों की बुराई ।

अनुवादः—दुष्कर्म करने वाला इस लोक में दुखी होता है, परलोक में दुखी होता है—दोनों ही लोकों में दुखी होता है । अपने कर्मों की बुराई देखकर वह शोक करता है और नष्ट हो जाता है

[स्थान—जेतवन (सावत्थी), व्यक्ति—धम्मिक उपासक]

१६. इध मोदति पेच्च मोदति, कतपुञ्ञो उभयत्थ मोदति ।
सो मोदति सो पमोदति, दिस्वा कम्मविसुद्धिमत्तनो ॥१६॥

शब्दार्थः—मोदति = प्रसन्न रहता है । कतपुञ्ञो = पुण्यकर्म करने वाला, धार्मिक । कम्मविसुद्धिमत्तनो = अपने कर्मों की पवित्रता ।

अनुवादः—पुण्य कर्म करने वाला इस लोक में प्रसन्न रहता है, परलोक में प्रसन्न रहता है—दोनों लोकों में प्रसन्न रहता है । अपने कर्मों की पवित्रता देखकर वह प्रसन्न होता है, सुखी रहता है ।

---

१. सी०—पच्च ।

[स्थान—जतवन (सावत्थी), व्यक्ति—दे दत्त]

१७. इध तप्पति पेच्च तप्पति, पापकारी उभयत्थ तप्पति।
पापं मे कत[1] ति तप्पति, भिय्यो[2] तप्पति दुग्गतिं गतो॥१७

शब्दार्थ—कत = किया हुआ (सस्कृतम्)। ति = ऐसा। भिय्यो = पुन या अधिक। दुग्गति = दुर्गति अर्थात् नरक को।

अनुवाद—पाप कर्म करने वाला इस लोक में दुःखी होता है—परलोक मे दुःखी होता है दोनों लोकों में दुःखी होता है। मैंने पाप किया यह सोचकर दुःखी होता है। नरक में जाकर और अधिक दुःखी होता है।

[स्थान—जेतवन (सावत्थी) व्यक्ति—सुमना देवी

१८ इध नन्दति पेच्च नन्दति कतपुञ्ञो उभयत्थ नन्दति।
पुञ्ञं मे कत' ति नन्दति, भिय्यो नन्दति सुग्गतिं गतो॥१८

शब्दार्थ—पुञ्ञ = पुण्य। सुग्गति = सद्गति Fausboll ने इसका अर्थ स्वर्ग किया है।

अनुवाद—पुण्य कर्म करने वाला इस लोक में आनन्दित होता है परलोक में आनन्दित होता है—दोनों लोकों में आनन्दित होता है मैंने पुण्य कर्म किया है ऐसा सोचकर आनन्दित होता है, स्वर्ग में पहुँच कर और अधिक आनन्दित होता है।

[स्थान—जेतवन (सावत्थी) व्यक्ति—द्वे सहायक भिक्खु

१९. बहुं पि चे सहितं[3] भासमानो, न तक्करो होति नरो पमत्तो।
गोपो व गावो गणयं परेसं, न भागवा सामञ्ञस्स होति॥१९

शब्दार्थ—बहु = बहुत। अपि = भी। चे = यदि। सहित = सहिता (बुद्ध वाक्यों का सकलन—त्रिपिटकादि पवित्र बौद्ध ग्रन्थ)। भासमानो = पढता हुआ। न तक्करो = उसे न करने वाला। होति = होता है। नरो = मनुष्य। पमत्तो = प्रमत्त। गोपो = ग्वाला। गावो = गायें। गणयं = गिनता हुआ। परेसं = दूसरों की। भागवा = हिस्सेदार। सामञ्ञस्स = श्रामण्य पद का।

---

१ कत + इति अनुस्वार के बाद वाले स्वर का वैकल्पिक लोप। २ भी—भीयो।
३ स०।

Fausboll ने इसे संस्कृत के 'सामान्य' का पर्याय मानकर Community अर्थ लिया है।

अनुवाद—यदि कोई प्रमत्त (प्रलापी) मनुष्य बहुत सी संहिताओं को पढ़ता हुआ भी तदनुकूल आचरण नहीं करता तो वह श्रमण के पद में उसी तरह भागीदार नहीं होता जिस प्रकार दूसरों की गायों का गिनने वाला ग्वाला (उन गायों में भागीदार नहीं होता)।

२०. अप्पं, पि चे सहितं भासमानो, धम्मस्स होति अनुधम्मचारी।
रागं च दोसं च पहाय मोहं, सम्मप्पजानो सुविमुत्तचित्तो।
अनुपादियानो इध वा हुरं[1] वा, स भागवा सामञ्ञस्स होति ॥२०

शब्दार्थ—अप्प पि=थोड़ा भी। अनुधम्मचारी=धर्मानुकूल चलने वाला। दोस—द्वेष को। पहाय=छोड़कर। सम्मप्पजानो—सम्यक् ज्ञान को जानने वाला। सुविमुत्तचित्तो=सभी प्रकार की वासनाओं से मुक्त चित्त वाला। अनुपादियानो=किसी की चिन्ता न करते हुये। इध वा हुर वा—इस लोक में अथवा उस लोक में।

अनुवाद—यदि कोई धर्मानुचारी व्यक्ति थोड़ी भी संहिताओं को पढ़ता हुआ राग, द्वेष और मोह को छोड़कर, सम्यक् ज्ञानवान्, सभी वासनाओं से मुक्त और किसी की चिन्ता नहीं करता (वह) इस लोक अथवा परलोक में भी श्रमणधर्म का भागीदार होता है।

२. अप्पमादवग्गो दुतियो

[स्थान—घोसिताराम (कोशाम्बी), व्यक्ति—सामावती रानी]

२१. अप्पमादो अमतपदं, पमादो मच्चुनो पदं।
अप्पमत्ता न मीयन्ति, ये पमत्ता यथा मता ॥१॥

शब्दार्थ—अप्पमादो=अप्रमाद अर्थात् उत्साह या उद्योग। अवध किशोर नारायन ने इसका अर्थ 'सतत उत्साहशीलता' Fausboll ने सावधानी

[1] १. 'हुर' पालिभाषा में बहु प्रचलित अव्यय जैसा शब्द है जिसका मूल अभी तक अनुसन्धेय है।

(Vigilantia), Gogerly ने धम (Religion) Childers ने उ (diligence), Max-Müller ने उद्योग (earnestness) और P. Vaidya ने उत्साह (Zeal) अर्थ किया है। अमतपदं = अमृतपद अर्थ निर्वाण को। पमादो = आलस्य। मच्चुनो — मृत्यु के। मीयन्ति = मरते हैं यथा मता — मरे हुये जैसे।

अनुवाद — उत्साह (या उद्योग) अमृतत्व (अर्थात् निर्वाण) का मार्ग है आलस्य मृत्यु का मार्ग है। आलस्य रहित व्यक्ति मृत्यु को प्राप्त नहीं होते किन्तु जो आलसी हैं वे तो पहले से ही मर हुये के समान हैं।

विशेष — उद्योग (या उत्साह) धन, लाभ और कल्याण का मूल है। अतः उद्योगी सदा ही दुःखरहित अनन्त सुख भोगने वाला होजाता है। महात्मा विदु का वचन है—

अनिर्वेदः श्रियो मूलं लाभस्य च शुभस्य च।
महान् भवत्यनिर्विण्णः सुखं चानन्त्यमश्नुते ॥ विदुर नीति VII 5

२२. एतं[1] विसेसतो ञत्वा, अप्पमादम्हि पण्डिता।
अप्पमादे पमोदन्ति, अरियानं गोचरे रता ॥२॥

शब्दार्थ — विसेसतो — विशेष रूप से। ञत्वा — जानकर। अप्पमादम्हि — उत्साह या उद्योग में। अरियानं — आर्यों का। Max-Müller ने इसका अर्थ चुना हुआ' (elect) किया है। गोचरे — कर्तव्य क्षेत्र या मार्ग में। रता — संलग्न हैं।

अनुवाद — आर्यों के कर्तव्य क्षेत्र में तत्पर उत्साह या उद्योग में प्रवीण व्यक्ति इसे (पूर्व गाथा में प्रतिपादित सिद्धान्त को) भली भाँति जानकर उद्योग या उत्साह में ही प्रसन्न होते हैं।

२३ ते झायिनो साततिका, निच्चं दळ्ह[2]परक्कमा।
फुसन्ति धीरा निब्बाणं, योगक्खेमं अनुत्तरं ॥३॥

शब्दार्थ — झायिनो — ध्यान करने वाले अर्थात् बुद्धिमान। साततिका —

---

१. ना० — एव।

२. दळ्ह — दृढ। दो स्वरों के मध्य 'ड' को ळ और 'ढ' को ळ्ह होना वैदिक नियम है। हिन्दी में यही नियम 'ड' के स्थान पर 'ड़' और 'ढ' के स्थान पर 'ढ़' के रूप में दीख पड़ता है।

दूरदर्शी। निच्च—नित्य। दळ्हपरक्कमा—पराक्रम (या प्रयत्न) में दृढ़। फुसन्ति—छूते हैं प्राप्त करते हैं (सं० स्पृशन्ति)। अनुत्तरं—सर्वोत्तम। निब्बाण—निर्वाण, Childers के अनुसार 'अर्हत्त्व'।

अनुवाद—वे बुद्धिमान, दूरदर्शी, हमेशा दृढ़ पराक्रम या प्रयत्न वाले, धीमान् व्यक्ति सर्वोत्तम कल्याणस्वरूप निर्वाण को प्राप्त करते हैं।

[स्थान—राजगह (वेणुवन), व्यक्ति—कुम्भघोसक]

२४. उट्ठानवतो सतिमतो[1], सुचिकम्मस्स निसम्मकारिनो।
संयतस्स च धम्मजीविनो, अप्पमत्तस्स यसोऽभिवड्ढति ॥४॥

शब्दार्थ—उट्ठानवतो—अपना उत्थान करने वाले का। सतिमत—ध्यानशील का (सं० स्मृतिमत)। निसम्मकारिनो—सुनकर करने वाले का। यसोऽभिवड्ढति—यश बढ़ता है।

अनुवाद—आत्मोन्नति करने वाले, ध्यानशील, पवित्र कर्म वाले, (गुण प्राप्त पुरुषों से) सुनकर करने वाले, संयतेन्द्रिय, धर्मजीवी और उत्साही व्यक्ति का यश बढ़ता है।

[स्थान—राजगह (वेणुवन) व्यक्ति—चुल्लपन्थक थेर]

२५. उट्ठानेनप्पमादेन, संयमेन दमेन च।
दीपं कयिराथ मेधावी, यं ओघो नाभिकीरति ॥५॥

शब्दार्थ—उट्ठानेनप्पमादेन—आत्मोत्थान और उत्साह द्वारा, दीप—द्वीप स्थान, Childers ने इसका अर्थ 'अर्हत् पद' State of an Arhat किया है। वस्तुत यहाँ 'दीप' शब्द निर्वाण का भाव लिये हुये है। कयिराथ—करना चाहिये। ओघो—बाढ़। न अभिकीरति—चारो ओर छितरा न सके।

अनुवाद—आत्मोत्थान, उत्साह (या उद्योग), संयम और दम के द्वारा बुद्धिमान् ऐसा स्थान बनाये जिसे बाढ़ भी अपनी चपेट में न ला सके।

२६. पमादमनुयुञ्जन्ति, बाला दुम्मेधिनो जना।
अप्पमादं च मेधावी, धनं सेट्ठं व रक्खति ॥६॥

शब्दार्थ—पमादमनुयुञ्जन्ति—आलस्य में लग जाते हैं। बाला—बालक अर्थात् मूर्ख। दुम्मेधिनो—बुरी बुद्धि वाले। धन सेट्ठं—श्रेष्ठ धन। संरक्ख-

---

१. अ० सतीमतो।

म्यूलर ने इसका अर्थ Best jewel और P. L. Vaidya ने precious wealth किया है।

अनुवाद—अविवेकी (एव) दुर्बुद्धि मनुष्य आलस्य में लग जाते हैं और बुद्धिमान् व्यक्ति उत्साह या उद्योग को श्रेष्ठ धन के समान रक्षा करते हैं।

२७. मा पमादमनुयुञ्जेथ, मा कामरतिसन्थवं।
अप्पमत्तो हि झायन्तो, पप्पोति विपुलं सुखं ॥७॥

शब्दार्थ—**कामरतिसन्थवं**—काम और रति क्रीडा। **झायन्तो**—ध्यानशील। **पप्पोति**—प्राप्त करता है (सं० प्राप्नोति)।

अनुवाद—आलस्य में कभी न लगे और न काम क्रीडा तथा रति विहार में ही लगे। ध्यानशील अप्रमत्त व्यक्ति निश्चय ही अतुल सुख प्राप्त करता है।

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—महाकस्सप थेर]

२८. पमादं अप्पमादेन, यदा नुदति पण्डितो।
पञ्ञापासादमारुय्ह, असोको सोकिनिं पजं।
पब्बतट्ठो व भुमट्ठे, धीरो बाले अवेक्खति ॥८॥

शब्दार्थ—**पञ्ञापासादमारुय्ह**—प्रज्ञा के किले पर चढ़कर। **असोको**—शोक रहित। **सोकिनि**—शोक सन्तप्त **पजं**—भीड को (सं० प्रजाम्)। **पब्बतट्ठो**—पर्वत पर स्थित। **भुम्मट्ठे**—भूमि पर स्थित। **बाले**—बालक पर। पी० एल० वैद्य ने ignorant people अर्थ किया है। **अवेक्खति**—नीचे की ओर देखता है।

अनुवाद—जब विद्वान् उत्साह या उद्योग के द्वारा आलस्य को ढकेल देता है तब प्रज्ञा रूपी किले पर चढ़कर शोकरहित व्यक्ति शोक सन्तप्त भीड (प्रजा) को उसी प्रकार देखता है जैसे पर्वत पर स्थित धैर्यशाली व्यक्ति जमीन पर खड़े हुये बालक को देखता है।

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—द्वे सहायक भिक्खु]

२९. अप्पमत्तो पमत्तेसु, सुत्तेसु बहुजागरो।
अबलस्सं व सीघस्सो, हित्वा याति सुमेधसो ॥९॥

शब्दार्थ—**सुत्तेसु**—सोये हुये व्यक्तियों में, **बहुजागरो**—बहुत जगने वाला अर्थात् प्रबुद्ध। **अबलस्सं**—कमजोर घोडे को (**अस्स**—अश्व)। **सीघस्सो**—शीघ्र

दौड़ने वाला घोड़ा (स० शीघ्राश्व)। हित्वा—छोड़कर। सुमेधसो—सद्बुद्धि वाला।

अनुवाद—आलसी व्यक्तियों में उत्साही (या उद्योगी) सोए हुओं में बहुत जागने वाला (या प्रबुद्ध) सद्बुद्धि वाला व्यक्ति उसी प्रकार आगे बढ़ जाता है जैसे कमजोर घोड़े को छोड़कर द्रुतगामी घोड़ा।

(स्थान—कूटागार (वैशाली), व्यक्ति—महाली)

३०. अप्पमादेन मघवा, देवानं सेट्ठतं गतो।
अप्पमादं पसंसन्ति, पमादो गरहितो सदा ॥१०॥

शब्दार्थ—सेट्ठत—श्रेष्ठता को। पसंसन्ति—प्रशंसा करते हैं। गरहितो—घृणास्पद (स० गर्हितः)।

अनुवाद:—उत्साह (या उद्योग) से (ही) इन्द्र देवताओं में श्रेष्ठता को प्राप्त हुआ है। (लोग) उत्साह (या उद्योग) की प्रशंसा करते हैं। आलस्य हमेशा निन्दनीय है।

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—अन्यतर भिक्खु]

३१. अप्पमादरतो भिक्खु, पमादे भयदस्सि वा।
सयोजनं[1] अणुं थूलं, डहं अग्गी व गच्छति ॥११॥

शब्दार्थ—अप्पमादरतो—उत्साह या उद्योग में मलग्न। भयदस्सि—भय देखने वाला। सयोजन—जीवन में आने वाले विघ्न। (बौद्ध धर्म में दस सयोजन माने गये हैं— १. सक्कायदिट्ठि, २. विचिकिच्छा, ३. सीलब्बतपरामास, ४. कामच्छन्द, ५. व्यापाद, ६ रूपराग, ७. अरूपराग, ८. मान, ९. उद्धच्च, १०. अविज्जा। इनमें से प्रथम पाच को 'पञ्च ओरभागियानि' और शेष को 'पञ्च उद्ध भागियानि' कहा जाता है। Dr. P. L Vaidya का मत है कि यहां 'सयोजन' के साथ 'अणुं' और 'स्थूल'—दोनों विशेषण क्रमश 'पञ्च ओरभागियानि' और 'पञ्च उद्ध भागियानि' की ओर सकेत करते हैं। डह—जलाते हुये (स० दहन्)। Max-Muller तथा Childers ने 'डहं' पाठ मानकर burning अर्थ किया है किन्तु Fausboll और Weber ने 'सहं'

१. सि०—सञ्ञोजन।

पाठ मानकर क्रमश सह्य (Vincens) और जीतकर (Conquering) अर्थ किया है।

अनुवाद —उत्साह (या उद्योग) म तत्पर, आलस्य म भय देखने वाला भिक्षु जीवन म आने वाले सूक्ष्म और स्थूल—सभी विघ्नो को नष्ट करता हुआ (जलाता हुआ) अग्नि के समान विचरण करता है।

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—तिस्सथेर (निगमवासी) *

३२. अप्पमादरतो भिक्खु, पमादे भयदस्सि वा।
अभब्बो परिहानाय, निब्बाणस्सेव[1] सन्तिके ॥१२॥

शब्दार्थ —अभब्बो—न हाने योग्य (स० अभव्य)। परिहानाय—छोड़ने के लिये अर्थात् निर्वाण से दूर होने योग्य नहीं है। सन्तिके—समीप म।

अनुवाद —उत्साह (या उद्योग) म तत्पर तथा आलस्य मे भय देखने वाला भिक्षु निर्वाण के समीप ही है, उससे दूर होने के योग्य नहीं है।

३. चित्तवग्गो ततियो

[स्थान—चालिक पब्बत[2], व्यक्ति—मेघिय थर]

३३ फन्दनं चपलं चित्त', दुरक्खं[3] दुन्निवारयं।
उजुं करोति मेधावी, उसुकारो' व तेजनं ॥१॥

शब्दार्थ —फन्दनं—सासारिक सुखो की ओर दौड़ने वाले या चलायमान (स० स्पन्दन)। दुरक्ख—कठिनाई से रक्षा करने योग्य। दुन्निवारय—दुर्निवार्य। उजु—सीधा, अकुटिल, (स० ऋजु)। उसुकारो—बाण बनाने वाला (स० इषुकार) तेजन—बैंत को।

*श्री सत्कारि शर्मा वगीय द्वारा सम्पादित चौखम्बा सस्करण म इस गाथा के स्थान एव पात्रो का निर्देश नहीं है। यहाँ हमने अवध किशोर नारायण द्वारा सम्पादित महाबोधिसभा, सारनाथ के सस्करण के आधार पर स्थान-पात्र का निर्देश किया है।

अनुवाद:—मेधावी पुरुष सांसारिक सुखों की ओर दौड़ने वाले, चंचल, चपल और दुर्निवार्य चित्त (मन) को ऋजु (एकाग्र) बना लेता है जैसे बाण बनाने वाला बाण को सीधा करता है।

विशेष:—इसी भाव का गीता में भी एक श्लोक प्राप्त है जिसमें दुर्निवार्य चंचल मन को अभ्यास और वैराग्य से वश में करने की बात कही गयी है—

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥६—३५

३४. वारिजो' व थले खित्तो, ओकमोकत उब्भतो।
परिफन्दतिदं चित्तं, मारधेय्यं पहातवे ॥२॥

शब्दार्थ:—वारिजो—मत्स्य। खित्तो—फेंका हुआ (सं० क्षिप्त)। ओकम्—जल, आगार—घर, ओकमोकत—जलीय घर से। उब्भतो—निकाला हुआ (सं० उद्धृत) परिफन्दतिदं चित्तं—यह चित्त फड़फड़ाता है। मारधेय्यं—मार के अधिकार को। Max-Muller ने 'धेय्य' का अर्थ dominion किया है। पहातवे—मुक्ति के लिए (वैदिक रूप 'प्रहातवे')।

अनुवाद:—जिस प्रकार जलीय घर से निकाल कर स्थल पर फेंकी हुयी मछली अपनी मुक्ति के लिए फड़फड़ाती है उसी प्रकार यह चित्त (Max-Muller के अनुसार Our thought और D'Alwis के अनुसार Mind) अपनी मुक्ति के लिये चारों ओर तड़पता फिरता है।

विशेष:—'ओकमोकत' पद के अनुवाद के सम्बन्ध में परम्परागत विद्वानों तथा भदन्त बुद्धघोष के भी मत का खण्डन करते हुए श्री मन्तारि प्रसा वगीर ने "ओकतो (अर्थात् जलमय निवास स्थान से) ओकम् (घर पर) उब्भतो (उद्धृत अर्थात् लायी हुयी) वारिजो (मछली)······" अर्थ किया है। उनका तर्क है, 'ओक' को संस्कृत 'उदक' का पालिरूप माना जाय जैसा कि सुप्रसिद्ध भाषाशास्त्री जार्ज ग्रियर्सन तथा मैक्समूलर आदि मानते हैं तो 'ओकम्' में द्वितीया विभक्ति का प्रयोग नहीं हो सकेगा। लेकिन वगीर का मत स्वीकार करने में पहली आपत्ति तो यह है कि 'ओकतो' का 'जलमय निवास स्थान से' यह अर्थ कैसे हुआ जबकि 'जलमय' अर्थ के लिये पालि शब्द दिया ही नहीं गया।

दूसरी आपत्ति यह है कि उपर्युक्त अर्थ मानने पर 'थले खित्तो' पद की सार्थकता क्या होगी ? वास्तव मे 'ओक' द्वितीया विभक्ति का रूप न होकर प्रथमा एकवचन का रूप है जो संस्कृत के 'उदक' (नपु०) का ही शब्द सकोचन होकर पालि मे आया है। सम्भवत श्री बर्गीय को संस्कृत 'उदक' के पुल्लिग होने का भ्रम हुआ होगा।

[स्थान—सावत्थी, व्यक्ति—अञ्ञतर भिक्खु

३५. दुन्निग्गहस्स लहुनो, यत्थकामनिपातिनो।
चित्तस्स दमथो साधु, चित्तं दन्तं सुखावहम् ॥३॥

शब्दार्थ :—लहुनो = क्षुद्र का (स० लघुन)। यत्थकामनिपातिनो = इच्छानुकूल इधर-उधर दौडने वाले अर्थात् चपल का। दमथो = दमन। दन्त = वशीकृत।

अनुवाद —कठिनाई से वश मे किये जा सकने वाले, क्षुद्र और चपल चित्त (या मन) का दमन श्रेयस्कर है। वशीकृत चित्त (मन) सुखकारी होता है

[स्थान—सावत्थी, व्यक्ति—उक्कण्ठितञ्ञतर भिक्खु]

३६. सुदुद्दसं सुनिपुणं, यत्थकामनिपातिनम्।
चित्तं रक्खेथ मेधावी, चित्तं गुत्तं सुखावहम् ॥४॥

शब्दार्थ :—सुदुद्दस = दुर्दर्श अर्थात् मुश्किल से ही देखा जा सकने वाला। P.L. Vaidya ने incomprehensible (दुर्ज्ञेय) अर्थ किया है। गुत्तं = रक्षित (स० गुप्तम्)।

अनुवाद :—दुर्दर्श (या दुर्बोध्य), धूर्त (Max-Muller के अनुसार Artful) और चञ्चल चित्त की रक्षा करनी चाहिये। अच्छी तरह रक्षा किया हुआ चित्त (या मन) सुखकारी होता है।

[स्थान—सावत्थी, व्यक्ति—सघरक्खित थेर

३७. दूरंगमं एकचरं, असरीरं गुहासयं।
ये चित्तं संयमेस्सन्ति, मोक्खन्ति मारबन्धना ॥५॥

अनुवाद :—जो व्यक्ति, दूर-दूर तक जाने वाले, अकेले ही विचरण करने वाले, शरीर रहित, गुहा मे रहने वाले चित्त (या मन) को सयमित कर लेंगे, मार के बन्धनो से मुक्त हो जायेंगे।

विशेष :—'गुहा' का सामान्य अर्थ 'गुफा' है। किन्तु बौद्धदर्शन में इसका विशेष अर्थ है। टीकाकार भदन्त बुद्धघोष के अनुसार "गुहा नाम चतुमहाभूत-गुहा, इद च हदयरूप निस्साय वत्ततीति।" मैक्समूलर ने इसका अर्थ The chamber (of the heart) किया है।

[स्थान—सावत्थी, व्यक्ति—चित्तहत्थ थेर]

३८. अनवट्ठितचित्तस्स, सद्धम्मं अविजानतो।
परिप्लवपसादस्स, पञ्ञा न परिपूरति ॥६॥

शब्दार्थ :—परिप्लवपसादस्स = शान्ति नष्ट हो गयी है जिसकी अर्थात् प्रशान्त की। पञ्ञा = प्रज्ञा। परिपूरति = परिपूर्ण होती है।

अनुवाद :—चञ्चल चित्त वाले, सद्धर्म से अनभिज्ञ एवं अशान्त व्यक्ति की बुद्धि (कभी) परिपूर्ण नहीं होती।

३९. अनवस्सुतचित्तस्स, अनन्वाहतचेतसो।
पुञ्ञपापपहीनस्स, नत्थि जागरतो भयं ॥७॥

शब्दार्थ :—अनवस्सुतचित्तस्स = कामनाओं से मुक्त चित्त वाले व्यक्ति का। (अन् + अवस्सुत + चित्तस्स) 'अवस्सुत' का तात्पर्य है—आस्रव से दुष्ट। लेकिन 'अवस्सव' के मूल अर्थ के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। Weber ने 'अनवस्सुत' को संस्कृत के 'अनवश्रुत' का पालिरूप मान unspotted अर्थ किया है। ललित विस्तर के बाइसवें अध्याय में 'शुष्का आस्रवा न पुनः स्रवन्ति' उद्धरणको उद्धृत करते हुए बुर्नफ (Burnouf) ने 'आश्रव' का पालिरूप 'आसव' माना है। उसी ग्रन्थ में बुद्ध का एक नाम 'क्षीणास्रव' दिया गया है। धम्मपद की ८९ गाथा में 'खीणासवा' पद का प्रयोग 'वीतराग' के अर्थ में हुआ है। पालिकोषों में 'आसव' को 'काम' का पर्याय माना गया है। महापरिनिब्बानसुत्त में 'आसव' के तीन भेद—कामासव, भावासव, अविज्जासव दिये हैं। उनके अनुसार 'आसव' का मूल तात्पर्य The running out towards objects of the senses है जो वैदिक 'आश्राव' से भिन्न है। लेकिन मैक्समूलर आपस्तम्ब धर्मसूत्र II 5, 9 में पठित 'आश्राव' का ही पालिरूप 'अवस्सव' मानते हैं—"It is better, however, to take आश्राव here too, as the act of running out, the affections, appetites,

passions." वैसे 'अनाश्रव'[1] शब्द का लौकिक संस्कृत में प्रयोग 'अविधेय' के अर्थ में भी होता है (रघुवंश १६—४६ पर मल्लिनाथ)। इस प्रकार प्रथम पाद का अर्थ 'जिसका चित्त (बुद्ध के) वचनों में स्थित नहीं है उसका' यह भी सम्भव है। अनन्वाहतचेतसो = आघात (दुःख) से न व्याकुल चित्त वाले व्यक्ति का।

अनुवादः—वासनाओं से मुक्त चित्त वाले, व्याकुलता से शून्य हृदय वाले पाप और पुण्य से हीन प्रबुद्ध व्यक्ति के लिए भय नहीं है।

विशेष—महायानी परम्परा के अनुसार बुद्धत्व प्राप्ति के बाद भगवान् बुद्ध के मुख से 'शुष्का आश्रवा न पुनः श्रवन्ति' वाक्य सर्वप्रथम प्रस्फुटित हुये थे। विशेष विवरण के लिए देखिये राजेन्द्र लाल मित्र द्वारा सम्पादित ललितविस्तर अध्याय २२।

[स्थान = सावत्थी, व्यक्ति—५०० विपस्सक भिक्खु]

४०. कुम्भूपमं कायमिमं विदित्वा, नगरूपमं चित्तमिदं ठपेत्वा।
योधेथ मारं पञ्ञायुधेन[2], जितं च रक्खे अनिवेसनो सिया ॥८॥

शब्दार्थ—कुम्भूपम—घड़े के समान। नगरूपम—नगर के समान। ठपेत्वा—स्थिर कर। अनिवेसनो—गृहविहीन। Max-Muller ने should never rest अर्थ किया है। सिया—होना चाहिये (सं० स्यात् ?)।

अनुवाद—इस काया को कुम्भवत् समझकर, नगर के तुल्य इस चित्त को स्थिर (दृढ) कर बुद्धिरूपी अस्त्र से मार के साथ युद्ध करे, जीते हुये (मार) की रखवाली करे, घर छोड़ देना चाहिये।

[स्थान—सावत्थी, व्यक्ति—पूतिगत्ततिस्स थेर]

४१. अचिरं वतयं कायो, पठविं अधिसेस्सति।
छुद्धो अपेतविञ्ञाणो, निरत्थं' व कलिंगरं ॥९॥

शब्दार्थः—वतय—दुःख है। पठविं—पृथ्वी पर। अधिसेस्सति—सो जायेगी। छुद्धो—छूटा हुआ (सं० क्षिप्त)। अपेतविञ्ञाणो—विज्ञानशून्य। निरत्थं—व्यर्थ। कलिंगरं—काष्ठखण्ड या जली हुई लकड़ी।

१. "वचने स्थित आश्रव" अमरकोष।
• ना०—पञ्ञावुधेन।

अनुवाद:—बहुत दुःख है, निरर्थक लकड़ी के समान (अन्त्येष्टि के समय) फेंका हुआ चेतना (विज्ञान) शून्य शरीर पृथ्वी पर शीघ्र ही सो जायेगा।

[स्थान—कोसलजनपद, व्यक्ति—नन्दगोपालक]

४२. दिसो दिसं यं तं कयिरा, वेरी वा पन वेरिनं।
मिच्छापणिहितं चित्तं, पापियो नं ततो करे ॥१०॥

शब्दार्थ.—दिसो—द्वेषी। कयिरा—करे। मिच्छापणिहितं—गलत दिशा की ओर प्रेरित। पापियो—नीचतम। नं—उसको।

अनुवाद:—द्वेष करने वाला द्वेषी के साथ अथवा शत्रु शत्रु के साथ कुछ भी करे। पर, गलत दिशा की ओर प्रेरित चित्त (या मन) उस निकृष्ट व्यक्ति का घोर अहित करता है।

[स्थान—कोसल जनपद[1] व्यक्ति—सोरेय्य थेर]

४३. न तं माता-पिता कयिरा, अञ्ञे वापि च ञातका।
सम्मापणिहितं चित्तं, सेय्यसो नं ततो करे ॥११॥

शब्दार्थः—ञातका—जाति-भाई। सम्मापणिहितं—सही दिशा की ओर प्रेरित। सेय्यसो—कल्याण (सं० श्रेयस्)। ततो—उससे भी अधिक।

अनुवाद:—जितनी (भलाई) न तो माता-पिता कर सकते हैं और न अन्य जाति-भाई, उससे अधिक उसकी भलाई सन्मार्ग की ओर प्रेरित चित्त (या मन) करता है।

---

१. इस गाथा के स्थान, पात्र का निर्देश अवध किशोर नारायण के संस्करण के आधार पर किया गया है। यह पूर्व गाथा के प्रसंग में उचित भी मालूम पड़ता है। चौखम्बा संस्करण में स्थान 'जेतवन (सावत्थी)' निर्दिष्ट है जो ब्रह्मदेशीय पाठ पर आधृत है। सिंहली पाठ में 'सोरेय्य नगरे···सावत्थियं' पाठ मिलता है।

४. पुप्फवग्गो चतुत्थो

[स्थान — सावत्थी, व्यक्ति — पञ्चसत भिक्खु]

४४ को[1] इमं पठविं विजेस्सति[2], यमलोकं च इमं सदेवकं।
को धम्मपदं सुदेसितं, कुसलो पुप्फमिव पचेस्सति ॥१॥

शब्दार्थ — विजेस्सति — जीतेगा। सदेवक — देवताओं सहित। मैक्स म्यूलर ने The world of the Gods अर्थ किया है। सुदेसित — अच्छी तरह से सिखाये गये। पुप्फमिव — फूल के समान। पचेस्सति — चुनेगा (स० प्रचेष्यति)।

अनुवाद — कौन इस पृथ्वी को जीतेगा ? और देवताओं समेत इस यमलोक का कौन जीतेगा ? और अच्छी तरह सिखाये हुये धर्म के पदों को उसी तरह संकलित करेगा जैसे कि चतुर व्यक्ति फूलों को।

४५. सेखो पठविं विजेस्सति, यमलोकं च इमं सदेवकं।
सेखो धम्मपदं सुदेसितं, कुसलो पुप्फमिव पचेस्सति ॥२॥

शब्दार्थः — सेखो — शिष्य (स० शैक्ष)।

अनुवादः — शिष्य पृथ्वी को जीतेगा, देवताओं समेत इस यमलोक को भी। शिष्य अच्छी तरह उपदिष्ट धर्म के पदों को उसी प्रकार संकलित कर लेगा जिस प्रकार चतुर (मालाकार) फूलों को चुन लेता है।

विशेष :—पालि का 'सेखो' शब्द संस्कृत के 'शैक्ष' का परिवर्तित रूप है। इसका तात्पर्य उस शिष्य से लिया जाता है जिसे तीन शिक्षाओं अधिशील सिक्खा, अधिचित्त सिक्खा, अधिपञ्ञा सिक्खा से 'अर्हत्व' प्राप्ति पर्यन्त शिक्षित किया जाता है। इस शिष्य की क्रमशः सात अवस्थायें होती हैं—(१) सोतापत्तिमग्गट्ठ, (२) सोतापत्तिफलट्ठ (३) सकदागामिमग्गट्ठ (४) सकदागामिफलट्ठ, (५) अनागामिमग्गट्ठ, (६) अनागामिफलट्ठ और (७) अरहत्तमग्गट्ठ।

[स्थान—सावत्थी, व्यक्ति—मरीचिकम्मट्ठानिक थेर]

४६. फेणूपमं कायमिमं विदित्वा, मरीचिधम्मं अभिसंबुधानो।
छेत्वान मारस्स पपुप्फकानि, अदस्सनं मच्चुराजस्स गच्छे ॥३॥

---

१. सि० — को म। २. ब० — विचेस्सति।

me clearly a translation from Pali and the Kam of सञ्चिन्वानकम् looks as if put in metricause." सत्कारि शमा वङ्गीय ने म्यूलर के मत की आलोचना करते हुए शङ्का उठायी है कि यदि प्रकृत गाथा का ही संस्कृत अनुवाद उक्त श्लोक है तो 'गा' के स्थान पर 'व्याघ्र' क्यों आ गया? पर, मुझे विश्वास है कि महाभारत के उक्त श्लोक में कम से कम 'व्याघ्र' के स्थान पर 'ग्राम' अवश्य रहा होगा क्योंकि बाढ के प्रसंग वही उचित भी है। यह बात अवश्य स्वीकार्य है कि पालि के प्राचीनतम ग्रन्थ भी महाभारत से अर्वाचीन हैं, अतः धम्मपद की प्रकृत गाथा संस्कृत का पालि अनुवाद हो सकती है।

[स्थान—सावत्थी, व्यक्ति—पतिपूजिका]

४८. पुप्फानि हेव पचिनन्तं, ब्यासत्तमनसं नरं।
अतित्तं येव[1] कामेसु, अन्तको कुरुते वसं ॥४॥

शब्दार्थ :—अतित्तं येव = अतृप्त ही (सं॰ अतृप्तमेव)। अन्तको = मृत्यु अभिधानप्पदीपिका के अनुसार मार'।

अनुवाद :—फूल ही फूल चुनने वाले, अव्यवस्थित मन वाले तथा काम वासनाओं से अतृप्त व्यक्ति को मृत्यु अपने वश में कर लेती है।

विशेष :—इसी भाव का निम्न श्लोक महाभारतीय शान्ति पर्व से उद्धृत किया जाता है—

पुष्पाणीव विचिन्वन्तमन्यत्रगतमानसम्।
अनवाप्तेषु कामेषु मृत्युरभ्येति मानवम् ॥१७५— ८

[स्थान—सावत्थी, व्यक्ति—मच्छरियकोसियसेट्ठि[2]]

४९. यथापि भमरो पुप्फं, वण्णगन्धं अहेठयं।
पलेति रसमादाय, एवं गामे मुनी चरे ॥६॥

शब्दार्थ :—भमरो = भ्रमर। वण्णगन्ध = वर्ण और गन्ध। अहेठयं = बिना हानि पहुँचाये हुये। पलेति = दूर चला जाता है। गामे = गाव में मुनी = भिक्षु।

अनुवाद :—जैसे भौंरा पुष्प को बिना हानि पहुँचाये रस, गन्ध और रस लेकर दूर चला जाता है उसी प्रकार भिक्षु को गाव में विचरण करना चाहिये

१. मा॰—अतित्तञ्ञेव। २ (कंजूस) कोसिय नामक सेठ।

विशेष :—दशवैकालिक की निम्न गाथाओं से तुलना कीजिये :—

> जहा दुमस्स पुप्फेसु, भमरो आवियइ रसं।
> न य पुप्फं किलामेइ, सो य पीणेइ अप्पयं॥
> एमेए समणा मुत्ता जे, लोए सन्ति साहुणो।
> विहंगमा व पुप्फेसु दाणभत्तेसणे रया ॥१।२—३

महात्मा विदुर ने भी महाभारत में धृतराष्ट्र के प्रति इसी भाव का उपदेश दिया है :—

> यथा मधु समादत्ते रक्षन् पुष्पाणि षट्पदः।
> तद्वदर्थान् मनुष्येभ्य आदद्यादविहिंसया ॥ विदुर० २।१७

[स्थान—श्रावस्ती, व्यक्ति—पाटिक आजीवक (साधु)]

> ५०. न परेसं विलोमानि, न परेसं कताकतं।
> अत्तनो' व अवेक्खेय्य, कतानि अकतानि च ॥५०॥

शब्दार्थ :—विलोमानि—प्रतिकूलताओं को भदन्त बुद्धघोष के अनुसार 'मम्मच्छेदक वचनानि'। कताकत—कृत और अकृत। मैक्स म्यूलर ने Sins of Commission or omission अर्थ किया है। अत्तनो' व—अपने ही।

अनुवाद—न तो दूसरों की प्रतिकूलताओं (या विपरीत वचनों) को और *न दूसरों के कृत्याकृत्य को ही देखना चाहिए। (मनुष्य) अपने ही किये न किये*

अनुवाद :—जिस प्रकार सुन्दर, रंग बिरंगा, सुगन्धित पुष्प (सार्थक) होता है उसी प्रकार कथनानुकूल (कार्य) करने वाले व्यक्ति के भलि-भांति कहे हुये वाक्य भी सफल होते हैं।

[स्थान—पुब्बाराम (सावत्थी), व्यक्ति—विसाखा उपासिका]

५३. यथापि पुप्फरासिम्हा कयिरा मालागुणे बहू।
एवं जातेन मच्चेन, कत्तब्बं कुसलं बहुं ॥१०॥

शब्दार्थ :—मालागुणे—माला के सूत्र। मच्चेन—मर्त्य के द्वारा। कत्तब्ब—करना चाहिये।

अनुवाद :—जिस प्रकार पुष्पराशि से बहुत-सी मालाओं के सूत्र पिरोये जा सकते हैं, उसी प्रकार पैदा हुये मर्त्य के द्वारा बहुत सी कुशलतायें (सत्कर्म) करनी चाहियें।

[स्थान—सावत्थी, व्यक्ति—आनन्द थेर]

५४ न पुप्फगन्धो पटिवातमेति, न चन्दनं तगरं मल्लिका वा।
सतं च गन्धो पटिवातमेति सब्बा दिसा सप्पुरिसो पवाति ॥११॥

शब्दार्थ :—न पटिवातमेति—वायु के प्रतिकूल नहीं जाती (सं० न प्रतिवातमेति)। तगर—तगर एक प्रकार का सुगन्धित पौधा। पी० एल० वैद्य ने चमेली (Josmine) और Dr Eitel ने कस्तूरी (Musk) माना है। सत—सज्जनों की। सप्पुरिसो=सज्जन पुरुष। पवाति=फैलता है।

अनुवाद :—न तो फूलों की गन्ध और न चन्दन, तगर अथवा मल्लिका की गन्ध ही वायु के प्रतिकूल जा पाती है। किन्तु सज्जनों की गन्ध (कीर्ति) वायु के प्रतिकूल (भी) जाती है। सत्पुरुष सभी दिशाओं में फैल जाता है (अर्थात् व्याप्त हो जाता है)।

५५ चन्दनं तगरं चापि, उप्पलं अथ वस्सिकी।
एतेसं गन्धजातानं, सीलगन्धो अनुत्तरो ॥१२॥

अनुवाद :—चन्दन, तगर अथवा कमल और जूही-इन सभी उत्पन्न होने वाली गन्धों में 'शील' (सदाचार) की गन्ध सर्वोत्तम है।

विशेष :—Max-Muller ने 'शील' का अर्थ Virtue किया है।

[स्थान—राजगह (वेणुवन), व्यक्ति—महाकस्सप]

५६. अप्पमत्तो अयं गन्धो, य्वायं तगरचन्दनी[1] ।
यो च सीलवतं गन्धो, वाति देवेसु उत्तमो ॥१३॥

शब्दार्थ :—अप्पमत्तो—थोड़ा ही (सं० अल्पमात्र)। य्वाय—य + अय। वाति—फैलती है।

अनुवाद :—यह गन्ध जो तगर और चन्दन से आती है, बहुत थोड़ी है, और जो गन्ध शीलवन्त लोगों की है, वह उत्तम गन्ध देवलोक में भी फैलती है

[स्थान—राजगह (वेणुवन), व्यक्ति—गोधिक थेर]

५७. तेसं सम्पन्नसीलानं, अप्पमादविहारिनं ।
सम्मदञ्ञा विमुत्तानं, मारो मग्गं न विन्दति ॥१४॥

शब्दार्थः—सम्मदञ्ञा—सम्यक् ज्ञान से। विमुत्तान—मुक्त व्यक्तियों के।

अनुवाद :—मार उन शीलसम्पन्न, उत्साह या उद्योग के साथ विहार करने वाले तथा सम्यक् ज्ञान के कारण मुक्त व्यक्तियों का मार्ग नहीं ढूंढ पाता (अर्थात् मार उपर्युक्त लक्षणों से सम्पन्न व्यक्ति का पीछा नहीं कर पाता)।

[स्थान—जेतवन व्यक्ति—गरहादिन्न]

५८. यथ संकारधानस्मिं, उज्झितस्मिं महापथे ।
पदुमं तत्थ जायेथ, सुचिगन्धं मनोरमं ॥१५॥

५९. एवं संकारभूतेसु, अन्धभूते पुथुज्जने ।
अतिरोचति पञ्ञाय, सम्मासंबुद्धसावको ॥१६॥

शब्दार्थ :—संकारधानस्मि=कूड़े के ढेर पर। उज्झितस्मि=फेंके हुये। अन्धभूते—अन्धों के मध्य। मैक्सम्यूलर के अनुसार among the people that walk in darkness. सम्मासंबुद्धसावको=सम्यक् बुद्ध का श्रावक अर्थात् बुद्ध का शिष्य।

अनुवाद :—जिस प्रकार बड़े राजमार्ग के किनारे फेंके हुये कूड़े के ढेर पर पवित्र गन्ध वाला सुन्दर कमल उग आता है उसी प्रकार कूड़े के समान (क्षुद्र) अन्धकार में भटके हुये अज्ञानी जनों के मध्य सम्यक् बुद्ध का शिष्य प्रज्ञा के सहारे सुशोभित होता है।

---

१. स्या०—तगरचन्दन।

५. बालवग्गो पंचमो

[स्थान—जेतवन (सावत्थी) व्यक्ति—दुग्गत¹ सेवक]

६० दीघा जागरतो रत्ति दीघं सन्तस्स योजनं ।

दीघो बालान संसारो, सद्धम्मं अविजानतं ॥१॥

शब्दार्थ—रत्ति=रात्रि सन्तस्स—थके हुये के (सं श्रान्तस्य)। योजन=चार कोस की माप। P L Vaidya के अनुसार league (तीन मील) और मैक्स म्यूलर ने भाव की दृष्टि से a mile अर्थ किया है। बालान=मूर्खों का। संसारो—जगत् जाल P L Vaidya के अनुसार chain of existance और मक्सम्यूलर के अनुसार life

अनुवाद—जागने हुए की रात लम्बी हो जाती है, थके हुये (राहगीर) का योजन भी बड़ा हो जाता है। सद्धर्म को न जानने वाले मूर्खों की संसार-यात्रा लम्बी होती है।

विशेष—माण्डूक्यकारिका मे भी मूर्ख एवं वासनायुक्त व्यक्ति की संसार यात्रा को दीर्घ बताया है— यावद्धेतु फलावेश संसारस्तावदायत ४।५६ इस पर शङ्करभाष्य गाथा की द्वितीय पंक्ति के भाव को सुस्पष्ट कर देता है— यावत् सम्यग् दर्शनेन हेतुफलावेशो न निवर्तते अक्षीण संसारस्तावदायतो दीर्घो भवति।

[स्थान—राजगृह व्यक्ति—सद्धि विहारिक (सत्त)]

६१ चरं चे नाधिगच्छेय्य, सेय्यं सदिसमत्तनो।

एकचरियं दल्हं कयिरा, नत्थि बाले सहायता ॥२॥

शब्दार्थ—सदिसमत्तनो=अपने समान (सं० सदृशमात्मन)। सहायता=सङ्गति

अनुवाद—यदि (कोई यात्री मार्ग मे) अपने समान या अपने से श्रेष्ठ (अन्य यात्री) न प्राप्त करे तो उसे अकेले ही दृढतापूर्वक (यात्रा) करनी चाहिये मूर्ख का साथ अच्छा नहीं।

विशेष—सुत्तनिपात की निम्नलिखित गाथा में भी यही उपदिष्ट है—
नो चे लभेथ निपकं सहायं सद्धिं चरं साधुविहारिधीरं।
राजा व रट्ठं विजितं पहाय एको चरे मातङ्गरञ्ञे व नागो ॥१—३—४६

---

१ दरिद्र।

[स्थान—सावत्थी, व्यक्ति—ग्रानन्द सेट्ठि]

६२. पुत्ता मत्थि धनं मत्थि, इति बालो विहञ्ञति।
अत्ता हि अत्तनो नत्थि, कुतो पुत्ता कुतो धनं ॥३॥

शब्दार्थ :—पुत्ता=पुत्र (बहु०)। मत्थि=म=मेरे। अत्थि=है। व्याकरण की दृष्टि से बहुवचन के साथ ए० व० की क्रिया का प्रयोग चिन्त्य है। विहञ्ञति=नष्ट होता है। Max-Muller ने दुःखी होता है (tormented) अर्थ किया है। अत्ता=आत्मा स्वयं। अत्तनो=अपने आप का।

अनुवाद :—'मेरे पुत्र हैं, मेरा धन है' ऐसा सोचकर मूर्ख विनाश को प्राप्त होता है। जब वह स्वयं अपने का ही नहीं है तो उसके कहां पुत्र और कहां धन?

[स्थान—जेतवन व्यक्ति—गंठिभेदक चोर]

६३. यो बालो मञ्ञति बाल्यं, पंडितो वापि तेन सो।
बालो च पंडितमानी, स वे बालो'ति वुच्चति ॥४॥

शब्दार्थ —मञ्ञति=मानता है। मैक्समूलर=Knows बाल्यं=बचपन अर्थात् अज्ञता। तेन=उस कारण से। वुच्चति=कहा जाता है।

अनुवाद:—जो मूर्ख अपनी अज्ञता स्वीकार कर लेता है, वह उसी कारण पण्डित (विद्वान्) है। किन्तु वह मूर्ख जो अपने को पण्डित मानता है, वही (यथार्थ में) मूर्ख कहा जाता है।

विशेष :—भारतीय संस्कृति में सर्वत्र ही पण्डितम्मन्य की कटु आलोचना की गयी है। कठोपनिषद् के निम्न वाक्य को देखिये—

अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितम्मन्यमानाः।
दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः ॥

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—उदायित्थेर]

६४. यावजीवं पि चे बालो, पंडितं पयिरुपासति।
न सो धम्मं विजानाति, दब्बी सूपरसं यथा ॥५॥

शब्दार्थ —यावजीवं—जीवन पर्यन्त। पयिरुपासति—समीप में रहे

दब्बी—करछुली। सूपरस—दाल का स्वाद।

अनुवाद —यदि मूर्ख व्यक्ति जीवन पर्यन्त विद्वान् के समीप रहे फिर भी वह 'धर्म' को उसी प्रकार नहीं समझ पाता जैसे कि करछुली दाल के स्वाद को नहीं जान पाती।

विशेष —गोस्वामी तुलसीदास जी ने इसी भाव को इन शब्दों में व्यक्त किया है—

मूरख हृदय न चेत जो गुरु मिलहिं विरञ्चि सम।
फूलहिं फरहिं न बेत यदपि सुधा बरसहिं जलद॥

अधोलिखित सूक्ति से भी तुलना की जा सकती है—

गुरु निषेव्यापि हि जीवनान्तं भ्राम्यन् धरित्र्यामपि यावदम्बुधि।
अधीतशास्त्राण्यपि चिन्तयन् मुहु—र्धियाविहीनो न हि याति धन्यताम्॥

महाभारतीय सौप्तिक पर्व का यह श्लोक प्रकृत गाथा से प्राय अक्षरश मिलता है—

चिरं ह्यपि जड़ः शूरः पण्डितं पर्युपास्य हि।
न स धर्मान् विजानाति दर्वी सूपरसानिव। ५—३

[स्थान—जेतवन व्यक्ति—तिंस पावेय्यक[1] भिक्खु]

६५ मुहुत्तमपि चे विञ्ञू, पण्डितं पयिरुपासति।
खिप्पं धम्मं विजानाति, जिव्हा सूपरसं यथा॥६॥

शब्दार्थ —विञ्ञू—विज्ञ। खिप्पं—शीघ्र ही (सं० क्षिप्र)

अनुवाद —यदि विज्ञ व्यक्ति क्षणमात्र भी विद्वान् के समीप बैठे तो भी वह शीघ्र ही 'धर्म' को उसी प्रकार जान लेता है जैसे रसना दाल के स्वाद को।

विशेष —महाभारत का यह श्लोक भी प्रकृत गाथा से अक्षरश साम्य रखता है—

मुहूर्तमपि तं प्राज्ञः पण्डितं पर्युपास्य हि।
क्षिप्रं धर्मं विजानाति जिह्वा सूपरसानिव॥

(सौप्तिक पर्व, ५—४)

---

१. ए० के० नारायण द्वारा सम्पादित संस्करण में ध्वनि 'भद्रवर्गीय भिक्षु' है।

[स्थान—राजगृह (वेणुवन) व्यक्ति—सुप्पबुद्ध कुष्ठि]

६६ चरन्ति बाला दुम्मेधा, अमित्तेनेव अत्तना।
करोन्ता पापकं कम्मं, यं होति कटुकप्फलं ॥७॥

शब्दार्थ —अमित्तेनेव—शत्रु की भांति (सं० अमित्रेणेव)।

अनुवाद —बुरी बुद्धि वाले मूर्ख अपने ही शत्रु की तरह इस संसार में विचरण करते हैं क्योंकि वे उन्हीं बुरे कामों को करते हैं जिनका फल कड़ुवा होता है।

विशेष —“[illegible]”

[स्थान—जेतवन व्यक्ति—एक कृषक]

६७ न तं कम्मं कतं साधु, यं कत्वा अनुतप्पति।
यस्स अस्सुमुखो रोदं, विपाकं पटिसेवति ॥८॥

शब्दार्थ —अनुतप्पति—दुःखी होता है। रोदं—रोते हुये। विपाकं—परिणाम या फल। पटिसेवति—सेवन करता है।

अनुवाद —वह कर्म अच्छी तरह किया हुआ कर्म नहीं है जिसके करने से वह दुःखी हो और जिसका फल रोते हुये अश्रुपूर्ण मुख वाला (होकर) भोगना पड़ता है।

[स्थान—वेणुवन व्यक्ति—सुमन (मालाकार)]

६८ तं च कम्मं कतं साधु, यं कत्वा नानुतप्पति।
यस्स पतीतो सुमनो, विपाकं पटिसेवति ॥९॥

शब्दार्थ —पतीतो—विश्वस्त (सं० प्रतीत) P L Vaidya ने pleased अर्थ किया है। सुमनो—प्रसन्न मन वाला अर्थात् खुशदिल।

अनुवाद —और वही कर्म अच्छी तरह किया हुआ कर्म है जिसके करने पर (कर्ता) दुःखी नहीं होता तथा जिसका फल आश्वस्त (गद) खुशदिल व्यक्ति प्राप्त करता है।

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—उप्पलवण्णा थेरी]

६९ मधुव[1] मञ्ञती बालो, याव पापं न पच्चति।
यदा च पच्चति पापं, अथ[2] बालो दुक्खं निगच्छति ॥१०॥

---

१ सि० मधुवा। २ ब्रह्मदेशीय पाठ तथा नालन्दा संस्करण में अथ नहीं है

शब्दार्थ —मधुव—मधु के समान। याव—जब तक। पच्चति—पकता है अर्थात् फल देता है।

अनुवाद :—जब तक किया हुआ पापकर्म फल नहीं देता। मूर्ख उसे मधु के समान समझता है। किन्तु जब पापकर्म फल देता है तब मूर्ख दुःख को प्राप्त होता है।

[स्थान—राजगृह (वेणुवन), व्यक्ति—जम्बुक आजीवक]

७० मासे मासे कुसग्गेन, बालो भुञ्जेथ[1] भोजनं।
न सो संखतधम्मानं[2], कलं अग्घति सोळसिं ॥११॥

शब्दार्थ :—कुसग्गेन—कुश के अग्रभाग से। सखतधम्मान—धर्मज्ञों के (सं० संख्यातधर्माणां) टीकाकार भदन्त बुद्ध ने इसे स्पष्ट किया है—"ञात-धम्मा तुलितधम्मा, तेसु हेट्ठिमकोटिया सोतापन्नो सखतधम्मो, उपरिमकोटिया खीणासवो, इमेसं सखतधम्मानं।" कलं—भाग। अग्घति—मूल्य देता है। प्रायः सभी विद्वानों ने इसकी संस्कृत छाया 'अर्हति' दी है जो चिन्त्य है। संस्कृत के 'अर्घति' का पालिरूप 'अग्घति' है, अभिधानप्पदीपिका में 'अग्घो मूले च पूजने' अर्थ दिया है। सोळसिं—सोलहवीं।

अनुवाद :—मूर्ख व्यक्ति एक-एक महीने बाद कुश के अग्रभाग से भोजन करे किन्तु वह धर्मज्ञों के सोलहवें भाग के भी मूल्य के बराबर नहीं है।

विशेष :—इस गाथा में ब्राह्मण धर्म में प्रचलित कृच्छ्र, चान्द्रायण आदि व्रतों की निस्सारता प्रतिपादित की गयी है। बौद्धदर्शन में 'धर्म' का व्यापक अर्थ है। 'इतिवुत्तक पालि' के चतुक्कनिपातक में 'धम्मयाग' करने वालों की महनीयता का वर्णन इन शब्दों में किया गया है—

यो धम्मयागं अयजी अमच्छरी, तथागतो सब्बभूतानुकम्पी।
तं तादिसं देवमनुस्ससेट्ठं, सत्ता नमस्सन्ति भवस्स पारगुं ॥

[स्थान—राजगृह (वेणुवन), व्यक्ति—अहिप्रेत]

७१. न हि पापं कतं कम्मं, सज्जुखीरं व मुच्चति।
डहन्तं[3] बालमन्वेति, भस्मच्छन्नो[4] व पावको ॥१२॥

---

१. स०—भुञ्जेय्य। २. स०—सङ्खातधम्मान। ३. स्या०—दहन्तं।
४. स्या०—भस्माच्छन्नो।

शब्दार्थ :—सज्जुखीरं—धारोष्ण दूध (सं० सद्य क्षीरम्)। मुच्चति—परिणमित होता है। डहन्तं—जलाते हुये। बुद्धघोष ने "डहन्तं बालमन्वेति, किं विया' ति" लिखकर 'जलते हुए मूर्ख का अनुसरण करता है' अर्थ किया है।

अनुवाद :—किया हुआ पापकर्म धारोष्ण दूध के समान शीघ्र ही (दही के रूप में) परिणमित नहीं होता वह तो राख से ढकी हुई अग्नि के समान मूर्ख को जलाता हुआ उसका पीछा करता है।

विशेष:—'पापकर्म' तुरन्त ही फल नहीं देता, इस सम्बन्ध में मनुस्मृतिकार ने भी पापकर्म के परिणाम की उपमा ताजे दूध से दी है जो तुरन्त ही अपने विकार को प्राप्त नहीं हो पाता—

नाधर्मश्चरितो लोके सद्यः फलति गौरिव।

शनैरावर्तमानस्तु कर्तुर्मूलानि कृन्तति ॥ ४—१७२

[स्थान—राजगृह (वेणुवन) व्यक्ति—सट्ठिकूट (पेत)

७२. यावदेव अनत्थाय, ञत्तं बालस्स जायति।
हन्ति बालस्स सुक्कंसं, मुद्धमस्स विपातयं ॥१३॥

शब्दार्थ :—अनत्थाय—अनर्थ के लिये। ञत्तं—ज्ञत्व। Max Muller ने 'ज्ञपित' या 'ज्ञप्त' तथा Childers ने वैदिक 'ज्ञात्रम्' (Knowledge) का समानार्थक माना है। सुक्कंस—प्रसन्नता (सं० शुक्लांश)। मुद्ध—शिर। विपातयं—काटते हुए (सं० विपातयत्)।

अनुवाद.—जैसे ही (पापकर्म) ज्ञत्व को प्राप्त होता है (अर्थात् जान लिया जाता है), मूर्ख के प्रति अनर्थोत्पादक हो जाता है। (तब) वह पापकर्म मूर्ख के शिर को काटता हुआ (अर्थात् नीचा करता हुआ) उसकी (सारी) प्रसन्नता को नष्ट कर देता है।

विशेष —'ञत्त' को 'ज्ञान' (जैसा कि Childers ने भी माना है) का पर्याय मानकर हिन्दी अनुवादकों ने "मूर्ख मनुष्य का जितना भी (यावदेव) ज्ञान है, वह उसके अनर्थ के लिये होता है" अनुवाद किया है। लेकिन पूर्व गाथा के सन्दर्भ में देखने पर 'किया हुआ पापकर्म' इस अर्थ का अध्याहार करना आवश्यक हो जाता है। इसलिये Dr P. L. Vaidya ने इस गाथा का

अनुवाद "When the evil deed, after it has become known brings sorrow to the fool then it destroys his bright lot nay it cleaves his head.' और मैक्समूलर ने भी इसी प्रकार किया है।

[स्थान—जेतवन व्यक्ति—सुधम्म थेर]

७३ असतं भावनमिच्छेय्य[1] पुरेक्खारं च भिक्खुसु।
आवासेसु च इस्सरियं, पूजं परकुलेसु च ॥१४॥

शब्दार्थ —पुरेक्खार—सम्मान (सं० पुरस्कार)। इस्सरिय—स्वामित्व (सं० ऐश्वर्य)।

अनुवाद —मूर्ख व्यक्ति भिक्षुओं में सम्मान, मठों में स्वामित्व, दूसरों के परिवारों में पूजा और असम्भावित वस्तुओं की इच्छा करता है।

७४. ममेव कतमञ्ञन्तु, गिहीपब्बजिता उभो।
ममेव अतिवसा अस्सु, किच्चाकिच्चेसु किस्मिचि ॥
इति बालस्स सङ्कप्पो, इच्छा मानो च वड्ढति ॥१५

शब्दार्थ —कतमञ्ञन्तु —किया हुआ मानें (सं० कृत मन्येतां P. L. Vaidya के कृत मन्यन्ताम्)। गिही—गृहस्थ। पब्बजिता—परिव्राजक। अतिवसा—अधीनस्थ। किच्चाकिच्चेसु—कृत्याकृत्यों में। किस्मिचि—किन्हीं में (भी)। (सं० कस्मिंश्चित् व्याकरण की दृष्टि से यहां कस्मिंश्चित् होना चाहिये)।

अनुवाद — गृहस्थ और परिव्राजक—दोनों ही मेरे ही किए हुए को मान तथा किन्हीं भी (अर्थात् सभी) कृत्याकृत्यों में मेरे ही अधीनस्थ रहें' यह मूर्ख का संकल्प होता है। (और इस प्रकार) उसकी इच्छायें तथा अभिमान निरन्तर वृद्धि को प्राप्त होते हैं।

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—(वनवासिक) तिस्सथेर]

७५. अञ्ञा हि लाभूपनिसा अञ्ञा निब्बाणगामिनी।
एवमेतं अभिञ्ञाय, भिक्खु बुद्धस्स सावको।
सक्कारं नाभिनन्देय्य, विवेकमनुब्रूहये ॥१६॥

[1] स्या०—असन्तभावनमिच्छेय्य।

टीका 'अविज्जमान सम्भावन इच्छेय्य, असद्धो समानो सद्धो'ति म जनो जानातु ति इच्छति।"

शब्दार्थ :—लाभूपनिसा—लाभ की सीढ़ी (मार्ग)। प्राय सभी विद्वानो ने इसकी संस्कृत छाया 'लाभोपनिषद्' दी है। किन्तु 'उपनिषद्' शब्द का 'सीढ़ी या मार्ग' के अर्थ मे प्रयोग कही देखने मे नही आया। संस्कृत का 'उपनिश्रेणी' शब्द ही पालि के 'उपनिसा' शब्द का मूल मानना उचित होगा। सावको=शिष्य। सक्कार=सत्कार। विवेकमनुब्रूहये=विवेक (विरक्ति) को बढ़ावे।

अनुवाद :—'सांसारिक लाभ का मार्ग अन्य है और निर्वाण की ओर ले जाने वाला मार्ग अन्य है'—इस प्रकार तथ्य को जान कर बुद्ध का शिष्य भिक्षु सत्कार (आदि) का अभिनन्दन न करे (अपितु) विवेक अर्थात् विरक्ति को बढ़ावे।

विशेष :—कठोपनिषद् के निम्न मन्त्रो मे यही सिद्धान्त इस प्रकार प्रतिपादित किया गया है—

> अन्यच्छ्रेयोऽन्यदुतैव प्रेयस्ते नानार्थे पुरुष सिनीत ।
> तयो श्रेय आददानस्य साधु भवति हीयतेऽर्थाद्य उ प्रेयो वृणीते ॥
> श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ सम्परीत्य विविनक्ति धीर ।
> श्रेयो हि धीरोऽभिप्रेयसो वृणीते प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद् वृणीते ॥
> (१—२—१, २)

---

६. पण्डित[1]वग्गो छट्ठो

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—राध थेर]

७६. निधीनं' व पवत्तारं, यं पस्से वज्जदस्सिनं ।
निग्गय्हवादिं मेधाविं, तादिसं पण्डितं भजे ।
तादिसं भजमानस्स, सेय्यो होति न पापियो ॥१॥

---

१ पण्डित का लक्षण—

दुभयानि च विचेय्य पाण्डुरानि, अज्झत्त बहिद्धा च सुद्धिपञ्ञो :
कण्हं सुक्कं उपातिवत्तो, पण्डितो तादि पवुच्चते तथत्ता ॥"

(सुत्तनिपात, ३–६–१२५)

शब्दार्थ—निधीनं' व पवत्तारं—निधियों के बताने वाले की भांति वज्जदस्सिन—दोषद्रष्टा को। निग्गय्हवादिं—दोषों को पकड़कर कहने वाले को। तादिसं—वैसे (स० तादृशम्)।

अनुवाद—जो छिपी हुई निधियों को बताने वाले के समान दोष दिखाने वाला है उसे देखना चाहिये (अर्थात् ऐसा ही व्यक्ति दर्शनीय है) दोषों को पकड़ कर कहने वाले उस प्रकार के मेधावी पण्डित की सेवा करें। उक्त प्रकार के विद्वान् की सेवा करने वाले का कल्याण ही होता है बुरा नहीं।

विशेष—प्रकृत गाथा में सत्सङ्गति के द्वारा ही कल्याण सम्भव है सिद्धान्त प्रस्तुत किया गया है। इतिवुत्तकपालि के सुखपत्थना सुत्त में इसी सिद्धान्त को और भी अधिक स्पष्ट किया है—

> यादिसं कुरुते मित्तं, यादिसं चूपसेवति।
> स वे तादिसको होति, सहवासो हि तादिसो॥
> तस्मा पत्तपुटस्सेव, ञत्वा सम्पाकमत्तनो।
> असन्ते नुपसेवेय्य सन्ते सेवेय्य पण्डितो।
> असन्तो निरयं नेन्ति सन्तो पापेन्ति सुग्गतिं॥

[स्थान—जेतवन व्यक्ति—अस्सजी पुनब्बसू]

७७ ओवदेय्यानुसासेय्य, असब्भा च निवारये।
सतं हि सो पियो होति, असतं होति अप्पियो॥२॥

शब्दार्थ—ओवदेय्य—उपदेश दे (स० अववदेत्) अनुसासेय्य—अनुशासन करे। असब्भा—अशिष्टता से।

अनुवाद—जो दूसरों को उपदेश दे (अर्थात् गलतियों से सावधान करे) अनुशासन करे और अशिष्टता से दूर करे वह निश्चय ही सज्जनों का प्रिय होता है और दुर्जनों का अप्रिय।

[स्थान—जेतवन व्यक्ति—छन्न थेर]

७८ न भजे पापके मित्ते, न भजे पुरिसाधमे।
भजेथ मित्ते कल्याणे भजेथ पुरिसुत्तमे॥३॥

शब्दार्थ—पुरिसाधमे—अधम व्यक्ति से। कल्याणे—भलाई चाहने

गले यलप न 'मित्ते कल्याणे' का विशिष्ट पारिभाषिक शब्द 'कल्याण मित्र' ा अर्थ म गृहीत किया है। पुरिसुत्तमे—उत्तम व्यक्ति में।

अनुवाद :—दुष्कर्म करने वाले मित्र का साथ न करे और न अधम व्यक्ति का संगति म ही रहे। भलाई चाहने वाले मित्र के साथ रहे और उत्तम व्यक्ति की संगति करे।

विशेष.—इस प्रकार के उपदेश भारतीय वाङ्मय म सर्वत्र देखे जा सकते है। तुलनार्थ दो सूक्तियां उद्धृत की जा रही हैं—

(क) वर गहनदुर्गेषु भ्रान्त वनचरैं सह ।
न दुष्टजनसम्पर्कः सुरेन्द्र भवनेष्वपि ॥

(ख) सद्भिरेव सहासीत सद्भिः कुर्वीत संगतिम् ।
सद्भिर्विवाद मैत्रीञ्च नासद्भि किञ्चिदा चरेत् ॥

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—महाकप्पिन थेर]

७६. धम्मपीति सुखं सेति, विप्पसन्नेन चेतसा ।
अरियप्पवेदिते धम्मे, सदा रमति पण्डितो ॥४॥

शब्दार्थ —धम्मपीति—धर्म से प्रेम करने वाला। मैक्समूलर ने he who drinks in the law अर्थ किया है जो चिन्त्य है। अरियप्पवेदिते धम्मे—श्रेष्ठ व्यक्तियों द्वारा प्रचारित धर्म में। बुद्धघोष ने 'अरिय' का अर्थ 'बुद्ध और उनके अनुयायी' किया है जो उचित नहीं जचता।

अनुवाद :—धर्म म प्रेम करने वाला प्रफुल्लित मन से सुख पूर्वक सोता है (अर्थात् धार्मिक चैन से पैर फटक कर सोता है)। विद्वान् सदा ही श्रेष्ठ व्यक्तियों द्वारा प्रचारित धर्म मे रमता है।

विशेष :—महाभारत के उद्योग पर्व के निम्न श्लोक में भी एसी ही बात कही गयी है—

आर्यकर्मणि रज्यन्त भूतिकर्माणि कुर्वते ।
हित च नाभ्यसूयन्ति पण्डिता भरतर्षभ ॥ ३३–२५

[स्थान—जेतवन व्यक्ति—पण्डित सामणेर]

८०. उदक हि नयन्ति नेत्तिका, उसुकारा नमयन्ति तेजन ।
दारु नमयन्ति तच्छका, अत्तान दमयन्ति पण्डिता ॥५॥

शब्दार्थ —नेतिका—ले जाने वाले। मैक्सम्यूलर ने well makers तथ builders of canals अर्थ किया है। ऐसा अर्थ सम्भवतः बुद्धघोष की टीका "पठविया थलट्ठान सणित्वा आवाटट्ठान पूरेत्वा मातिक वा करवा रुक्खदोणि वा उपरवा ग्रत्तनो इच्छिच्छितट्ठान उदक नेन्तीति नतिका" के आधार पर कल्पित किया गया है। तच्छका— बढ़ई। अत्तान— अपने का।

अनुवाद.—(पानी) ले जाने वाले (नहर या कुआ खोदकर अपनी इच्छानुसार) पानी ले जाते है बाण बनाने वाले बेंत को मोड़ते है, बढ़ई लकड़ी को मोड़ देते है (और) पण्डित अपने का (ही) दमन करते है।

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—लकुण्ठक भद्दीय थर]

८१. सेलो यथा एकघनो, वातेन न समीरति।
एवं निन्दापसंसासु, न समिञ्जन्ति पण्डिता ॥६॥

शब्दार्थ —सेलो = शैल, चट्टान। एकघनो = ठोस। समीरति = हिलता है। (स० समीयते)। न समिञ्जन्ति = विचलित नहीं होते (स० समीज्यन्ते[1])।

अनुवाद :—जिस प्रकार ठोस चट्टान वायु के वेग से नहीं हिलती, उसी प्रकार निन्दा और प्रशंसाओं के बीच विद्वान् लोग अविचलित रहते हैं।

स्थान—जेतवन, व्यक्ति—काणमातु

८२ यथापि रहदो गम्भीरो, विप्पसन्नो अनाविलो।
एवं धम्मानि सुत्वान, विप्पसीदन्ति पण्डिता ॥७॥

शब्दार्थ :—रहदो = तालाब (स० ह्रद)। विप्पसन्नो = स्वच्छ। अनाविलो = कीचड़ रहित। विप्पसीदन्ति = शुद्ध हो जाते हैं।

अनुवाद :—जिस प्रकार गहरा तालाब स्वच्छ और कीचड़ रहित होता है उसी प्रकार पण्डित लोग भी धर्म वाक्यों को सुनकर शुद्ध (मन करण वाले) हो जाते हैं।

---

१. 'ईज—गतिकुत्सनयो' धातु से निष्पन्न।

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—पञ्चसत भिक्खु]

८३. सब्बत्थ वे सप्पुरिसा चजन्ति[1], न कामकामा लपयन्ति सन्तो।
सुखेन फुट्ठा अथवा दुःखेन, न उच्चावचं पण्डिता दस्सयन्ति ॥८॥

शब्दार्थ :—सब्बत्थ = सर्वत्र। मैक्समूलर ने Whatever befall और भदन्त बुद्धघोष ने 'पञ्चखन्धादिभेदेसु' सब्बधम्मेसु अर्थ किया है। चजन्ति = सन्तुष्ट होते है। पी०एल० वैद्य ने 'लौकिक सुखों को त्याग देते है Abandon Pleasures) और मैक्समूलर ने 'वजन्ति' पाठ मान कर walk on अर्थ किया है। लपयन्ति = प्रलाप करते हैं। फुट्ठा = स्पष्ट। उच्चवच = ऊँच-नीच गर्व और खिन्नता।

अनुवाद —सत्पुरुष सर्वत्र सन्तुष्ट रहते हैं। कामनाओ (लौकिक सुखो) की इच्छा करने वाले सज्जन बडबडाते नही हैं। सुख अथवा दुःख द्वारा स्पष्ट किये जाने पर विद्वान् गर्व या खिन्नता नही दिखाते।

विशेष —गीता मे ऐसे ही व्यक्तियों को 'मुनि' या 'स्थितधी' कहा गया है —

दुःखेष्वनुद्विग्नमना सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥ २—५६

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—धम्मिक थेर][2]

८४. न अत्तहेतु न परस्स हेतु,
न पुत्तमिच्छे न धनं न रट्ठं।
न इच्छेय्य अधम्मेन समिद्धिमत्तनो,
स सीलवा पञ्ञवा धम्मिको सिया ॥९॥

---

१ सभी विद्वानों ने इसकी संस्कृत छाया मे 'व्रजन्ति' लिखा है जो मैक्समूलर प्रभृति पाश्चात्य विद्वानों द्वारा कल्पित 'वजन्ति' पाठ के आधार पर है। मेरा अनुमान है, भाषा वैज्ञानिक परिवर्तनों के कारण संस्कृत का 'चकन्ति' पद ही पालि में 'चजन्ति' हो गया है।

२. महाबोधि सभा, सारनाथ द्वारा प्रकाशित और ए० के० नारायण द्वारा सम्पादित पुस्तक मे स्थान-व्यक्ति का निर्देश नही है।

शब्दार्थ —अत्तहेतु = अपने लिये। न पुत्तमिच्छे = पुत्र की इच्छा न करे। रट्ठ = राज्य (सं० राष्ट्रम्)। समिद्धिमत्तनो = अपनी समृद्धि। सिया = हो (सं० स्यात्)।

अनुवाद —न अपने लिये और न दूसरों के लिये ही जो न तो पुत्र की इच्छा करे और न धन तथा राजपाट की ही तथा अधर्म से अपने लिये जो समृद्धि की इच्छा न करे वह शीलवान्, प्रज्ञावान् और धार्मिक है।

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—धम्मसवण]

८५. अप्पका ते मनुस्सेसु, ये जना पारगामिनो।
अथायं इतरा पजा, तीरमेवानुधावति ॥१०॥

शब्दार्थ —अप्पका = थोड़े से (सं० अल्पका)। पारगामिनो = (संसार सागर से) पार चले जाने वाले। इतरा = सामान्य। पजा = प्रजा।

अनुवाद —मनुष्यों में वे मनुष्य बहुत थोड़े हैं जो (संसार सागर से) पार चले जाने वाले हैं (अर्थात् निर्वाण प्राप्त करते हैं) किन्तु शेष लोग किनारे पर ही दौड़ते फिरते हैं।

विशेष —मैक्समूलर ने दूसरी पंक्ति का अर्थ "the other people here run up and down the shore" किया है।

८६ ये च खो सम्मदक्खाते, धम्मे धम्मानुवत्तिनो।
ते जना पारमेस्सन्ति, मच्चुधेय्यं सुदुत्तरं ॥११॥

शब्दार्थ —खो = निश्चय ही (सं० खलु)। सम्मदक्खाते = अच्छी तरह कहे जाने पर। मच्चुधेय्य = मृत्यु के अधिकार क्षेत्र को। 'तरित्वा' क्रिया पद का अध्याहार आवश्यक है

अनुवाद —और जो लोग अच्छी तरह कहे जाने पर निश्चित रूप से धर्म के अनुसार व्यवहार करते हैं। वे लोग मृत्यु के दुस्तर अधिकार क्षेत्र को (संसार-सागर को) तैर कर पार कर जावेंगे।

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—पञ्चसत ग्रागन्तुक भिक्खु]

८७. कण्हं धम्मं विप्पहाय, सुक्कं भावेथ पण्डितो ।
ओका अनोकं आगम्म, विवेके यत्थ दूरमं ॥१२॥

८८ तत्राभिरतिमिच्छेय्य, हित्वा कामे अकिञ्चनो ।
परियोदपेय्य अत्तानं चित्तक्लेसेहि पण्डितो ॥१३॥

शब्दार्थ—कण्ह = असद् (स० कृष्णम्) । विप्पहाय = छोड कर । सुक्कं = सद (स० शुक्लम्) । ओका = घर से । अनोकं = गृहशून्यत्व अर्थात् भिक्षु-भाव । विवेके = वैराग्य मे । दूरमं = दुरम्य अर्थात् जहा रमना दुष्कर है । तत्राभिरतिमिच्छेय्य = (तत्र = उस वैराग्य मे) आनन्द की इच्छा करे । परियोदपेय्य = शुद्ध करे (स० पर्यवदापयेत्) । चित्तक्लेसेहि = चित्त क्लेशो मे (बुद्धघोष के अनुसार "चित्तक्लेसेहि पञ्चहि नीवरणेहि")[१] ।

अनुवाद :—विद्वान् असद् धर्म को छोडकर सद्धर्म की भावना करे । घर से पृथक हो भिक्षुत्व को प्राप्त हो, सभी कामनाओं को छोडकर अकिञ्चन उस वैराग्य म आनन्द की इच्छा करे जिसमे रमना अत्यन्त दुष्कर है । विद्वान् अपने आपको चित्तगत क्लेशो से शुद्ध करे ।

८९. येसं सम्बोधि अंगेसु, सम्माचित्तं सुभावितं ।
आदानपटिनिसग्गे, अनुपादाय ये रता ।
खीणसवा जुतीमन्तो ते लोके परिनिब्बुता ॥१४॥

शब्दार्थ :—सम्बोधि अङ्गेसु = सम्यग् ज्ञान के सात अगों मे । सात ज्ञान के अग—सबोज्झग हैं — १. सति, २. धम्मविचय, ३. वीरिय, ४. पीति, ५. पस्सद्धि, ६. समाधि और ७. उपेक्खा । सम्माचित्त सुभावित = भली-भाति उद्बोधित मस्तिष्क । आदानपटिनिसग्गे = परिग्रह के प्रति त्याग मे । अनुपादाय = अनासक्ति पूर्वक । खीणसवा = वीतराग । जुतीमन्तो = दिव्य प्रकाश वाले । परिनिब्बुता = सासारिक दु खो से मुक्त अर्थात् सर्वाधिक सुखी ।

अनुवाद :—सम्यग् ज्ञान के सातो अगों मे जिनके मस्तिष्क भली-भाति उद्बोधित हैं, जो परिग्रह के प्रति अनासक्तिपूर्वक रत हैं, जिनके (काम, भाव

---

१. पञ्च नीवरण हैं—अभिज्झा, व्यापादो, थीनमिद्धं, उद्धच्चकुक्कुच्च और विचिकिच्छा ।

और अविद्या) तीन आस्रव नष्ट हो गये है तथा जो दिव्य प्रकाश वाले हैं, वे ह इस संसार मे सर्वाधिक सुखी है ।

---

७. अरहन्तवग्गो सत्तमो

[स्थान—जीवकस्स आम्रवन, (राजगह), व्यक्ति—जीवक]

९०. गतद्धिनो विसोकस्स, विप्पमुत्तस्स सब्बधि ।
सब्बगन्थप्पहीनस्स, परिलाहो न विज्जति ॥१॥

शब्दार्थ—गतद्धिनो=उस व्यक्ति का जिसने संसार-यात्रा पूरी कर ली हो। **सब्बधि**=सभी प्रकार से (संस्कृत—सर्वधा[1]) केवल वैदिक शब्द 'सर्वध' का पालिरूप 'सब्बधि' मानते है। **सब्बगन्थपहीनस्स**=जिसके सभी सांसारिक बन्धन टूट गये हो। 'गन्थ' जिन्हे 'कायगन्थ' भी कहा जाता है, चार हैं—अभिज्झा, व्यापाद, सीलब्बतपरामास और इदसच्चाभिनिवेस। **परिलाहो**=दुःख। यह परिदाह कायिक और चैतसिक—दो प्रकार का है। **न विज्जति**=नही रहता।

अनुवाद—संसार-यात्रा पूरी कर लेने वाले शोक रहित, सभी प्रकार से मुक्त और जिसके सभी सांसारिक बन्धन नष्ट हो गये हैं, उस व्यक्ति के लिये न तो शारीरिक और न मानसिक क्लेश ही रहता है।

---

१. श्री सत्कारि शर्मा वङ्गीय 'प्रकार' के अर्थ मे 'धा' (संस्कृत प्रत्यय) स्वीकार नही करते। उनका कहना है कि "द्विधा त्रिधा, आदि म जो 'धा' प्रत्यय सुना जाता है वह प्रत्यय नही है (हरिनामामृत व्याकरण का सिद्धान्त गलत है)" पर ऐसा लगता है कि वंगीय एक अप्रचलित व्याकरण का नाम लेकर पाठकों पर अपने वैदुष्य का प्रभाव डालना चाहते हैं। स्वयं पाणिनि ने "संख्याया विधार्थे धा" (५—३—४२) सूत्र लिखकर 'धा' प्रत्यय का विधान किया है। यह एक तद्धित प्रत्यय है जिससे एकधा, बहुधा आदि शब्द निष्पन्न होते हैं।

[स्थान—राजगृह (वेणुवन), व्यक्ति—महाकस्सप]

९१ उय्युञ्जन्ति सतीमन्तो, न निकेते रमन्ति ते।
हंसा व पल्ललं हित्वा, ओकमोकं जहन्ति ते ॥२॥

शब्दार्थ :—उय्युञ्जन्ति = प्रयत्न करते हैं। मैक्समूलर ने गाथा २३५ में 'गमन' अर्थ में प्रयुक्त 'उपयोग' को आधार बनाकर 'they depart i. e. they leave their family and embrace an ascetic life' अर्थ किया है। सतीमन्तो = बुद्धिमान लोग पल्लल = तालाब को। ओक = जल, ओकं = घर अर्थात् जलीय घर को। पी० एल० वैद्य 'ओकमोक' में द्विरुक्ति देखकर dear home और मैक्समूलर house and home अर्थ करते हैं। 'ओक वुच्चति आलयो' गाथा ८७ पर बुद्धघोष का व्याख्यान।

अनुवाद :—बुद्धिमान व्यक्ति (निर्वाण प्राप्त्यर्थ) प्रयत्न करते हैं, उन्हें घर से प्यार नहीं होता, वे अपने निजी घर को (निर्वाण प्राप्त्यर्थ उसी प्रकार छोड़ देते हैं जैसे हंस (अपनी सुरक्षा और आजीविका के लिये वर्षा ऋतु में) अपने जलीय घर तालाब को।

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—बेलट्ठि सीस]

९२. येसं संनिचयो नत्थि, ये परिञ्ञातभोजना।
सुञ्ञतो अनिमित्तो च, विमोक्खो येस गोचरो॥
आकासे व सकुन्तानं, गति तेसं दुरन्नया ॥३॥

शब्दार्थ :—संनिचयो = सञ्चय या कोष। यह दो प्रकार का है—कर्म में कुशलाकुशलता को 'कम्मसंनिचयो' और चार प्रत्ययों के समवाय को 'पच्चय-संनिचयो' कहते हैं। परिञ्ञातभोजना = भोजन के सम्बन्ध में सुविज्ञ। भोजन के सम्बन्ध में तीन परिज्ञायें[1] बतायी गई हैं—ञातपरिञ्ञा, तिरणपरिञ्ञा, पहानपरिञ्ञा। सुञ्ञतो = शून्य रूप। अनिमित्तो = निरपेक्ष। सकुन्तानं =

---

[1] बुद्धघोष—'तीहि परिञ्ञाहि परिञ्ञातभोजना; यागुभत्तादिजाननं ञातपरिञ्ञा, आहारे पटिक्कूलसञ्ञावसेन भोजनस्स परिजाननं तीरणपरिञ्ञा, कबलिंकाराहारे छन्दरागसमुक्कड्ढनं ञाणं पहाण-परिञ्ञा।

पक्षियों की। दुरन्वया = कठिनाई से अनुसरण करने योग्य। मैक्समूलर difficult to understand अर्थ किया है। बुद्धघोष ने भी 'न सक्को जानितु' ही अर्थ किया है।

अनुवाद—जिनके पास (दोनों प्रकार का) सचय नहीं है, जो भोजन सम्बन्ध म सुविज्ञ हैं तथा जिन्हें शून्य और निरपेक्ष—दोनों ही प्रकार के मोक्ष गोचर हैं उनकी गति का अनुसरण उतना ही कठिन है जितना कि आकाश में पक्षी की गति का।

विशेष :—महाभारत के निम्न श्लोक मे भी यही भाव प्रकारान्तर से इस प्रकार दिया गया है—

शकुनानामिवाकाशे मत्स्यानामिव चोदके।
पद यथा न दृश्यते तथा ज्ञानविदा गति ॥

शान्तिपर्व, १८१ । १६

भोजन की सही मात्रा क सम्बन्ध मे विदुर नीति का निम्न श्लोक द्रष्टव्य है-
यच्छक्य ग्रसितु ।

[स्थान—राजगृह (वेणुवन), व्यक्ति—अनुरुद्ध थेर]

९३. यस्सासवा[1] परिक्खीणा, आहारे च अनिस्सितो।
सुञ्ञता अनिमित्तो च, विमोक्खो यस्स गोचरो॥
आकासे व सकुन्तानं, पदं तस्स दुरन्नयं ॥४॥

शब्दार्थ :—आहारे = विषयोपभोग। पी० एल० वैद्य ने food और मैक्समूलर ने enjoyment अर्थ किया है। अनिस्सितो = उदासीन (सं० अनि सृत)।

अनुवाद :—जिसके सभी चित्तगत दोष क्षीण हो गये हैं, जो विषयोपभोग म उदासीन हैं तथा जिन्हें शून्य और निरपेक्ष—दोनों ही प्रकार के मोक्ष गोचर हैं, उनकी गति आकाश मे उड़ते हुए पक्षी की गति के समान कठिनाई से अनुसरण करने योग्य है।

---

१. 'आसव' चार माने गये हैं—'कामासव, भवासव, दिट्ठासव, अविज्जासव।

[स्थान—पूर्वाराम (सावत्थी,) व्यक्ति—महाकच्चायन थेर]

६४. यस्सिन्द्रियानि समथं गतानि, अस्सा यथा सारथिना सुदन्ता।
पहीनमानस्स अनासवस्स, देवापि तस्स पिहयन्ति तादिनो।५।

शब्दार्थ—समथ—शम। सुदन्ता—विनीत। पिहयन्ति—स्पृहा करते हैं (सं० स्पृहयन्ति) तादिनो—उस प्रकार के।

अनुवाद—सारथि के द्वारा भली-भांति विनीत किये गये घोड़ा के समान जिसकी इन्द्रियां शम भाव को प्राप्त हो गयी हैं जिसकी सभी ग्रन्थियां शिथिल होती जा रही है और जिसकी चित्तवृत्तियां शान्त हो गयी हैं, उस प्रकार के व्यक्ति से देवता भी स्पृहा करते है।

विशेष—विदुर नीति में भी।

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—सारिपुत्त थेर]

६५ पठवीसमो नो विरुज्झति इन्दखीलूपमो तादि सुब्बतो।
रहदो' व अपेतकद्दमो, ससारा न भवन्ति तादिनो।६।

शब्दार्थ—विरुज्झति—विरोध करता है। इन्दखीलूपमो—मन्दराचल के समान (सं० इन्द्रकीलोपम) पी० एल० वैद्य ने like a Pillar मैक्सम्यूलर ने like Indra's bolt और टीकाकार भदन्त बुद्धघोष ने 'नगरद्वारे निखात इन्दखील दारकादयो ओमुत्तेन्ति वि ऊन्दयन्ति पि "तस्स पठविया वा इन्दखीलस्स वा नेव अनुरोधो उप्पज्जति न विरोधो" जिसका आने वाले का न विरोध और न स्वागत करने वाले नगर के बहिर्द्वार पर गड़े हुये लकड़ी आदि से निर्मित लट्ठा के समान अच्छे व्रत वाला' यह भावार्थ किया है। पर संस्कृत वाङ्मय में 'इन्द्रकील' मन्दराचल के अर्थ बहुधा प्रयुक्त हुआ है और पर्वत किसी लट्ठे की अपेक्षा अच्छे व्रत वाला, (सुव्रत)—दृढ़ प्रतिज्ञ या अविचलित) अधिक हो सकता है। तादि—तादृश। अपेतकद्दमो—कीचड़ रहित। संसारा—पुनर्जन्म।

अनुवाद—जो पृथ्वी के समान विरोध नहीं करता, (सभी अवस्थाओं में) मन्दराचल के समान अविचलित और कीचड़रहित तालाब के मकान मलरहित है, उस व्यक्ति के पुनर्जन्म नहीं होते ।

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—कोसाम्बिभामित तिस्स थेर]

९६ सन्तं तस्स मनं होति, सन्ता वाचा च कम्म च ।
सम्मदञ्ञा विमुत्तस्स, उपसन्तस्स तादिनो ।७।

शब्दार्थ—सन्त—शान्त । सम्मदञ्ञा—सम्यक ज्ञान से ।

अनुवाद—उस व्यक्ति का मन, वाणी और कर्म—सभी शान्त हैं जो पहले बताये गये नियमों के द्वारा भली-भांति शान्त और सम्यग् ज्ञान के द्वारा मुक्त हैं ।

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—सारिपुत्त थेर]

९७ अस्सद्धो अकतञ्ञू च, संधिच्छेदो च यो नरो ।
हतावकासो वन्तासो, स वे उत्तमपोरिसो ।८।

शब्दार्थ—अस्सद्धो—अश्रद्धालु । अकतञ्ञू—अकृतज्ञ । सन्धिच्छेदो—सेंध मारने वाला । हतावकासो—निरवकाश या कम्बख्त । वन्तासो—निराश ।

अनुवाद—जो व्यक्ति अश्रद्धालु, अकृतज्ञ, सेंध मारने वाला, कम्बख्त और निराश है, वह निश्चय ही उत्तम पुरुष है ।

विशेष—गाथा के अभिधेयार्थ से तो एक दम ऐसा लगता है मानो बौद्ध-धर्म में अनैतिकता का ही बोलबाला रहा है । परगाथा का पारिभाषिक अर्थ इस प्रकार है—

शब्दार्थ—अस्सद्धो अन्धविश्वास रहित । अकतञ्ञू—अकृत (निर्वाण) का ज्ञ (जानने वाला) । सन्धिच्छेदो—सन्धि—संयोजन को काट देने वाला । हतावकासो—पुनर्जन्म का जिस अवकाश नहीं है । वन्तासो—आशा—तृष्णा जिसकी छूट गयी है ।

अर्थात्—

अन्धविश्वास रहित, निर्वाण का जानने वाला, संयोजन को काट देने वाला,

पुनर्जन्म के अवकाश से रहित और तृष्णा से परे जो व्यक्ति है, वह निश्चय ही उत्तम है।

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—खादिरवनिय रेवत थेर]

९८. गामे वा यदि वारञ्ञे, निन्ने वा यदि वा थले।
यत्थारहन्तो[1] विहरन्ति, तं भूमि रामणेय्यकं[2] ॥९॥

शब्दार्थ—अरञ्ञे—वन में। निन्ने—गहरे गड्ढे में। मैक्समूलर ने in the deep water अर्थ किया है। रामणेय्यकं—रमणीक (सं० रामणीयकम्)।

अनुवाद :—गाँव में अथवा जंगल में, गहरे गड्ढे में अथवा जमीन पर—जहाँ भी अर्हत् विहार करते हैं वह भूमि रमणीक है।

विशेष :—'तं भूमि रामणेय्यकं' वाक्य में कर्मकारक का प्रयोग व्याकरण के नियम के विरुद्ध है, प्रथमा का प्रयोग होना चाहिये था। भदन्त बुद्धघोष ने 'सो भूमिप्पदेसो रमणीयो एव' ही अर्थ किया है।

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—अरञ्ञक भिक्खु]

९९. रमणीयानि अरञ्ञानि, यत्थ न रमती[3] जनो।
वीतरागा रमिस्सन्ति, न ते कामगवेसिनो ॥१०॥

शब्दार्थ :—कामगवेसिनो—कामवासनाओं को ढूँढने वाले।

अनुवाद—वे अरण्य रमणीय हैं जहाँ सामान्य लोग रमण नहीं करते। (ऐसे अरण्यों में) वीतराग रमण करेंगे (क्योंकि) वे कामवासनाओं के अन्वेषक नहीं हैं।

---

१. ना०—यत्थ अरहन्तो। २. ना०—त भूमिरामणेय्यकं।
३. सि०—रमति।

८. सहस्सवग्गो[1] अट्ठमो

[स्थान—वेणुवन, व्यक्ति—तम्बदाठिक चोर घातक]

१००. सहस्समपि चे वाचा, अनत्थपदसंहिता ।
एकं अत्थपदं सेय्यो, य सुत्वा उपसम्मति ।।१।।

शब्दार्थ —अनत्थपदसंहिता = निरर्थक पद समूह वाले । अत्थपद = अर्थवान् पद । सुत्वा = सुन कर ।

अनुवाद —निरर्थक पद समूह वाले हजारों वाक्यों की अपेक्षा सार्थक एक पद (भी) श्रेष्ठ है जिसे सुनकर शान्ति प्राप्त होती है ।

विशेष —महाभाष्य—पस्पशाह्निक में भी इसी भाव का एक वाक्य मिलता है—

"एक शब्द सम्यग ज्ञात सुष्टु प्रयुक्त स्वर्गे लोके च कामधुग् भवति ।"

[स्थान—वेणुवन[2], व्यक्ति—दारुचीरिय थेर]

१०१. सहस्समपि चे गाथा, अनत्थपदसंहिता ।
एकं गाथापदं सेय्यो, यं सुत्वा उपसम्मति ।।२।।

अनुवाद —निरर्थक पद समूह वाली हजारों गाथाओं की अपेक्षा एक एक गाथापद श्रेष्ठ है जिसे सुन कर शान्ति प्राप्त होती है ।

विशेष :—टीकाकार भदन्त बुद्धघोष ने गाथा के उदाहरणस्वरूप धम्मपद की निम्न गाथा को उद्धृत किया है—

अप्पमादो अमतपदं, पमादो मच्चुनो पदं ।
अप्पमत्ता न मीयन्ति, ये पमत्ता यथा मता ।।२१।।

---

१. रायल एशियाटिक सोसाइटी, लन्दन के पुस्तकालय में प्राप्त 'महावस्तु' की पाण्डुलिपि में इस अध्याय का नाम 'सहस्रवर्ग' दिया है—"तेषां भगवञ्जटिलानां धर्मदेशु सहस्रवर्गं भाषति —

सहस्रमपि वाचानामनर्थपदसंहितानाम् ।
एकार्थवती श्रेया या श्रुत्वा उपशाम्यति ॥

विशेष विवरण के लिये देखिये—मैक्समूलर, संस्करण की पाद टिप्पणी ।

२ ए० के० नारायण वाले संस्करण में स्थान 'जेतवन' दिया गया है ।

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—कुण्डलकेसी थेर]

१०२. यो च गाथासतं भासे, अनत्थपदसंहिता ।
एकं धम्मपदं सेय्यो, यं सुत्वा उपसम्मति ॥३॥

अनुवाद:—जो (कोई) मनुष्य निरर्थक पद समूह वाली सैकड़ों गाथाओं को भले ही कहे (वे श्रेष्ठ नहीं हैं) उनमें धर्म का एक पद (भी) श्रेष्ठ है जिसे सुन कर शान्ति प्राप्त होती है।

१०३. यो सहस्सं सहस्सेन, संगामे मानुसे जिने ।
एकं च जेय्यमत्तानं, स वे संगामजुत्तमो ॥४॥

शब्दार्थ—जिने = जीत ले। जेय्यमत्तानं = जीतने योग्य अपने को। संगामजुत्तमो = संग्राम जीतने वालों में उत्तम।

अनुवाद:—जो व्यक्ति अकेला ही संग्राम में लाखों मनुष्यों को जीत ले (उससे भी श्रेष्ठ वह है) जो जीतने योग्य अपने आपको जीत लेता है। वही संग्राम जीतने वालों में उत्तम है।

विशेष:—इस पद की प्रथम पंक्ति का अर्थ मैक्समूलर ने If one man conquer in battle a thousand times thousand men" अर्थ किया है जिसका अनुसरण अधिकांश विद्वानों ने 'जो मनुष्य युद्ध में हजारों मनुष्यों को हजारों बार जीत लेवे" निरूपण किया है। पर टीकाकार बुद्धघोष ने "यो एको सहस्ससहस्सेन गुणितं सहस्सं मानुसं एकस्मिं संगामे जिनेय्य' अर्थ किया है वही अर्थ हमें भी मान्य है।

तुलनीय—'जितं जगत् केन ? मनो हि येन ।"

[स्थान—जेतवन व्यक्ति—अनत्थपुच्छक (ब्राह्मण)]

१०४. अत्ता हवे जितं सेय्यो, या चायं इतरा पजा,
अत्तदन्तस्स पोसस्स, निच्चं संयतचारिनो ॥५॥
१०५. नेव देवो न गन्धब्बो, न मारो सह ब्रह्मुना ।
जितं अपजितं कयिरा, तथारूपस्स जन्तुनो ॥६॥

—शब्दार्थ —अत्ता = आत्मा। अत्तदन्तस्स = आत्मदमन करने वाले का। पोसस्स = पुरुष को। [illegible]

'पुरुष' और पोस की निष्पत्ति मानते हैं। कच्चायन व्याकरण मे 'पूर' धातु से 'इस' प्रत्यय कर 'पुरिस' शब्द की व्युत्पत्ति बतायी गयी है। इसी से पोरिस—पोस—पास्स—पोस शब्द की निष्पत्ति स्वाभाविक है। तथाऽपस्स = उस प्रकार के। जितं = जीत को। 'अत्ता' (पु०) के साथ 'जितं' (नपु०) के गलत प्रयोग को बुद्धघोष ने लिङ्ग व्यत्यय माना है— जितं तिलिंगविपल्लासो।'

अनुवाद :—और जो अन्य प्रजा है उसकी अपेक्षा आत्मा को जीतना निश्चय ही श्रेष्ठ है। आत्मसंयमी, संयत आचरण करने वाले पुरुष की जीत का —उस प्रकार के प्राणी की जीत को न देवता, न गन्धर्व और न ब्रह्मा सहित मार ही पराजय बना सकता है।

[स्थान—वेणुवन, व्यक्ति—सारिपुत्तथेर मातुल]

१०६. मासे मासे सहस्सेन, यो यजेथ सतं समं।
एकं च भावितत्तानं, मुहुत्तमपि पूजये।
सा[1] एव पूजना सेय्या[2], यं चे वस्ससतं हुतं ॥७॥

शब्दार्थ —समं = वर्ष। वस्ससतं = सौ वर्ष तक। हुतं = यज्ञ।

अनुवाद —(एक ओर) जो मनुष्य सौ बरस तक हजारों (रुपयों) के द्वारा यज्ञ करे और (दूसरी ओर) आत्मस्वरूप को जानने वाले एक ही व्यक्ति की क्षणमात्र पूजा करे तो वही पूजा सौ वर्ष तक किये गये हवन (यज्ञ) की अपेक्षा श्रेष्ठ है।

विशेष :—इन गाथाओं (१०६, १०७, १०८) में यज्ञादि कर्मों की निस्सारता तथा यज्ञ के परिप्रेक्ष्य में बतायी गयी है। ऐसा ही भाव मुण्डकोपनिषद् में भी दीख पड़ता है—

इष्टापूर्तं मन्यमाना वरिष्ठं, नान्यच्छ्रेयो वेदयन्ते प्रमूढाः।
नाकस्य पृष्ठे सुकृतेऽनुभूत्वेमं लोकं हीनतरं वा विशन्ति ॥
(१—२—१०)

[स्थान—वेणुवन, व्यक्ति—सारिपुत्त भागिनेय्य]

१०७. यो च वस्ससतं जन्तु, अग्गिं परिचरे वने।
एकं च भावितत्तानं, मुहुत्तमपि पूजये।
सा[1] एव पूजना सेय्या[2], यं चे वस्ससतं हुतं ॥८॥

१. ना०—सायेव। २. ना० सेय्यो।

अनुवाद —और (एक ओर) जो प्राणी वन में सौ वर्ष तक अग्नि की परिचर्या करे (अर्थात् अग्नि से तपता रहे) किन्तु (दूसरी ओर) आत्मतत्त्व जानने वाले एक ही व्यक्ति की क्षणमात्र पूजा कर तो वही पूजा सौ वर्ष तक किये गये हवन की अपेक्षा श्रेष्ठ है।

विशेष—आत्मानन्द की श्रेष्ठता का वर्णन भर्तृहरि ने वैराग्य शतक में करते हुये अन्य सभी कर्मकाण्डों की भी निन्दा की है —

> किं वेदैः स्मृतिभिः पुराणपठनैः शास्त्रैर्महाविस्तरैः,
> स्वर्गग्रामकुटीनिवासफलदैः कर्मक्रियाविभ्रमैः ।
> मुक्त्वैकं भवबन्धदुःखरचनाविध्वंसकालानलं,
> स्वात्मानन्दपदप्रवेशकलनं शेषावणिग्वृत्तयः ॥६७॥

[स्थान—वेणुवन, व्यक्ति—सारिपुत्तमित्र ब्राह्मण]

> १०८. यं किंचि यिट्ठं[1] हुतं[1] लोके,
> संवच्छरं[2] यजेथ पुञ्ञपेक्खो ।
> सब्बं पि तं न चतुभागमेति,
> अभिवादना उज्जुगतेसु सेय्यो ॥९॥

शब्दार्थ—पुञ्ञपेक्खो = पुण्य की अपेक्षा करने वाला (पुञ्ञं अपेक्खतीति पुञ्ञपेक्खो । उज्जुगतेसु = सद्वृत्ति वालों में (बुद्धघोष—उज्जुगतेसु ति हेट्ठिम कोटिया सोतापन्नेसु उपरिमकोटिया खीणासवेसु) ।

अनुवाद :—पुण्य की अपेक्षा करने वाला मनुष्य इस लोक में पूरे वर्ष भर जो कुछ भी यज्ञ आदि करता है वह सबका सब भी सद्वृत्ति वाले मनुष्यों के प्रति किये गये श्रेष्ठ अभिवादन के चतुर्थांश तक भी नहीं पहुँच पाता।

विशेष—गोस्वामी तुलसीदास के निम्नलिखित दोहे से तुलना कीजिये—

> तात स्वर्ग अपवर्ग सुख धरिय तुला इक अंग ।
> तुलै न ताहि सकल मिलि, जो सुख लव-सतसंग ॥

---

१. ना०—य ।
२. पू०—संवत्सर ।

[स्थान—अरञ्जकुटिका, व्यक्ति—दीघायुकुमार]

१०९. अभिवादनसीलिस्स[1], निच्चं वद्धापचायिनो[2] ।
चत्तारो धम्मा वड्ढन्ति, आयु वण्णो सुखं बलं ॥ १० ॥

अनुवाद:—अभिवादनशील और हमेशा वृद्धजनो की सेवा मे तत्पर रहने वाले व्यक्ति के चार धर्म—आयु, वर्ण, सुख और बल बढते हैं।

विशेष :—ऐसा प्रतीत होता है कि बौद्धो ने स्वाभिमत के स्पष्टीकरण के लिये ही मनुस्मृति मे पाये जाने वाले निम्न श्लोक मे विद्या और यश के स्थान पर क्रमश वर्ण और सुख को स्थान दिया है, क्योकि बुद्ध जन्मना जाति या वर्ण नही मानते थे और सुख की खोज मे तो उन्होने गृहत्याग किया ही था—

अभिवादनशीलस्य नित्य वृद्धोपसेविन ।
चत्वारि तस्य वर्धन्ते आयुर्विद्या यशो बलम् ॥ २—१२१

इस पर मैक्समूलर तथा फाउसबोल का यह मत कि उक्त गाथा का भाव बौद्धो ने निश्चय ही ब्राह्मण धर्म के ग्रन्थो से लिया है, उचित जान पडता है क्योकि आपस्तम्ब धर्मसूत्र १। २। ५। १५ मे तथा अन्य *स्मृति-ग्रन्थो* मे भी ऐसे भाव पर्याप्त मात्रा मे मिलते हैं।

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—संकिच्च सामणेर]

११० यो च वस्ससतं जीवे, दुस्सीलो असमाहितो ।
एकाहं जीवितं सेय्यो, सीलवन्तस्स झायिनो ॥ ११ ॥

अनुवाद:—जो दुराचारी और असयमी व्यक्ति है वह सौ वर्ष तक (भले ही) जीवित रहे पर व्यर्थ है (उसकी अपेक्षा) शीलवान् और ध्यानी व्यक्ति का एक दिन का भी जीवन श्रेष्ठ है।

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—(खाणु) कोण्डञ्ञ थेर]

१११. यो च वस्ससतं जीवे, दुप्पञ्ञो असमाहितो ।
एकाहं जीवितं सेय्यो, पञ्ञावन्तस्स[3] झायिनो ॥ १२ ॥

अनुवाद:—जो दुर्बुद्धि और असंयमी व्यक्ति है वह सौ वर्ष तक (भले ही)

---

१. पू०—अभिवादन सीलस्स ।   २. सि०—वद्धापचायिनो ।
३. सि०—पञ्ञवन्तस्स ।

जीवित रहे (पर व्यर्थ है, उसकी अपेक्षा) प्रमादवान् और ध्यानी व्यक्ति का एक दिन का भी जीवन श्रेष्ठ है।

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—सप्पदास थेर]

११२. यो च वस्ससतं जीवे, कुसीतो हीनवीरियो।
एकाहं जीवितं सेय्यो, विरियमारभतो दळ्हं ॥१३॥

शब्दार्थ —कुसीतो=आलसी। मैक्समूलर ने पालि शब्द 'कुसीत' को ही बौद्ध संस्कृत का 'कुसीद' शब्द बताया है। पर गवेषणा से पता चलता है कि मनुस्मृति, याज्ञवल्क्यस्मृति, पञ्चतन्त्र आदि प्राचीन ग्रन्थों में 'कुसीद' का पर्याप्त प्रयोग हुआ है। (देखिए—आप्टे का संस्कृतकोष) अतः म्यूलर का मत भ्रमात्मक ही है, क्योंकि संस्कृत में बौद्ध-ग्रन्थों का लेखन तो मनुस्मृति, पञ्चतन्त्र आदि के बाद ही हुआ है।

अनुवाद—जो आलसी और हीनवीर्य व्यक्ति है वह सौ वर्ष तक (भले ही) जीवे (पर व्यर्थ है, उसकी अपेक्षा) दृढ़तापूर्वक वीर्य (प्रयत्न) प्रारम्भ करने वाले व्यक्ति का एक दिन का भी जीवन श्रेष्ठ है।

विशेष—पराक्रम या प्रयत्न में दृढ़ व्यक्ति सदा ही कल्याण प्राप्त करते हैं—धम्मपद की गाथा २३।

पञ्चतन्त्र का निम्न श्लोक इसी भाव को कितने सुन्दर शब्दों में व्यक्त कर रहा है—

यज्जीव्यते क्षणमपि प्रथितं मनुष्यै—
र्विज्ञानशौर्यविभवार्यगुणैः समेतम्।
तन्नाम जीवितमिह प्रवदन्ति तज्ज्ञाः,
काकोऽपि जीवति चिराय बलिं च भुङ्क्ते ॥ १–२४

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—पटाचारा थेरी]

११३. यो च वस्ससतं जीवे, अपस्सं उदयव्ययं[1]।
एकाहं जीवितं सेय्यो, पस्सतो उदयव्ययं ॥१४॥

---

[1] ६०—उदयब्बयं।

शब्दार्थः—अपस्सं=न देखता हुआ। उदयब्बयं=संस्कार आदि पञ्च स्कन्धों की उत्पत्ति और विनाश को (टीका०—पञ्चन्नं खन्धानं पञ्चवीसतिय लक्खणेहि उदय च व्यय च)।

अनुवाद—और जो (पञ्चस्कन्धों की उत्पत्ति और विनाश को न देखत हुआ सौ बरस तक जीता है (उसकी अपेक्षा) उस उत्पत्ति और विनाश को देख वाले व्यक्ति का एक दिन का भी जीवन श्रेष्ठ है।

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—किसा गोतमी]

११४. यो च वस्ससतं जीवे, अपस्सं अमतं पदं।
एकाहं जीवितं सेय्यो, पस्सतो अमतं पदं ॥१४॥

अनुवाद—और जो अमृतपद (निर्वाण) को न देखता हुआ सौ बरस त जीता है (उसकी अपेक्षा) अमृतपद को न देखने वाले व्यक्ति का एक दिन का जीवन श्रेष्ठ है।

[*स्थान—जेतवन, व्यक्ति—बहुपुत्तिका थेरी*]

११५. यो च वस्ससतं जीवे, अपस्सं धम्ममुत्तमं।
एकाहं जीवितं सेय्यो, पस्सतो धम्ममुत्तमं ॥१६॥

अनुवादः—और जो उत्तम धर्म को न देखता हुआ सौ बरस तक जीता (उसकी अपेक्षा) उत्तम धर्म को देखने वाले व्यक्ति का एक दिन का भी जीव श्रेष्ठ है।

पापवग्गो नवमो

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—चुल्लेकसाटक (ब्राह्मण)]

११६. अभित्थरेथ कल्याणे[1], पापा चित्तं निवारये।
दन्धं हि करोतो[2] पुञ्ञं, पापस्मिं रमती मनो ॥१॥

१. सि०—कल्याणे। २. पु—करोन्तो।

शब्दार्थ—अभित्थरेथ = शीघ्रता करे। दन्ध = देरी इसकी व्युत्पत्ति सन्दिग्ध है। सम्भव है संस्कृत के 'तन्द्र' से पालिन्द्र प्रसूत हुआ हो।

अनुवाद:—कल्याणकारी (शुभ) कार्यों में शीघ्रता करे। पाप कर्म से मन को दूर करे। पुण्य कर्म के करने में देरी करने पर मन पाप में रम जाता है।

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—सय्यसक थेर)

११७. पापं चे पुरिसो कयिरा, न तं कयिरा पुनप्पुनं।
न तम्हि छन्दं कयिराथ, दुक्खो पापस्स उच्चयो ॥२॥

शब्दार्थ:—छन्द = इच्छा। 'अभिप्रायवशौ छन्दौ' अमरकोष के वाक्य के अनुसार 'वश' अर्थ लेने पर तृतीय पाद का अर्थ होगा—'पाप के वश में न हो।' उच्चयो = समुच्चय।

अनुवाद:—यदि मनुष्य पाप का आचरण करे, तो उसे बार-बार न करे। उस (पापकर्म) में इच्छा न करे (क्योंकि) पाप का समुच्चय ही दुःख है।

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—लाजदेवकी कन्या]

११८. पुञ्ञं चे पुरिसो कयिरा, कयिराथेतं पुनप्पुनं।
तम्हि छन्दं कयिराथ, सुखो पुञ्ञस्स उच्चयो ॥३॥

अनुवाद:—यदि मनुष्य पुण्यकर्म करे तो उसे बार-बार करे, उसमें इच्छा करे (क्योंकि) पुण्यों का समुच्चय (ही) सुख है।

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—अनाथपिण्डिक सेट्ठि]

११९. पापो पि पस्सति भद्रं, याव पापं न पच्चति।
यदा च पच्चति पापं, अथ पापो पापानि पस्सति ॥४॥

शब्दार्थ:—पापो पि = पापी भी। भद्रं = कल्याण को। याव = जब तक।

अनुवाद:—जब तक पाप फल नहीं देता, पापी भी कल्याण देखता है और जब पाप फल देता है तो पापी (अपने) पापों को देखता है।

विशेष:—इसी भाव को महर्षि वाल्मीकि ने दूसरे ढंग से व्यक्त किया है—

ननु सद्योऽविनीतस्य दृश्यते कर्मणां फलम्?
कालोऽप्यङ्गी भवत्यत्र सस्यानामिव पक्तये ॥

—रामायण, ३ । ४६ । २७

१२० भद्रो पि पस्सति पापं, याव भद्रं न पच्चति ।
यदा च पच्चति भद्रं, अथ भद्रो भद्रानि पस्सति ।।५।।

अनुवाद —जब तक शुभकर्म फल नहीं देता भला आदमी भी पाप (कर्मों) की ओर ही देखता है और जब शुभकर्म फल देता है तो भला आदमी भलाई (शुभकर्म) को देखता है ।

[स्थान—जेतवन व्यक्ति—असञ्ञतपरिक्खार भिक्खु]

१२१ मा'पमञ्ञेथ[1] पापस्स, न मन्तं[2] आगमिस्सति ।
उदबिन्दुनिपातेन, उदकुम्भो पि पूरति ।
पूरति बालो[3] पापस्स, थोकथोकं[4] पि आचिनं ।।६।।

शब्दार्थ —माप्पमञ्ञेय=अवहेलना न करे (सं० माप्रमन्येत) । उदबिन्दुनिपातेन=जल की बूंद बूंद गिरने से । उदकुम्भो=जल का घड़ा । थोकथोकं पि=थोड़ा-थोड़ा भी । आचिनं=एकत्रित करता हुआ (आ+√चि से निष्पन्न) ।

अनुवाद —पाप की अवहेलना न करे कि वह मेरे पास नहीं आयगा । जल की बूंद बूंद गिरने से जल का घड़ा भी भर जाता है । पाप का थोड़ा थोड़ा भी संचय करता हुआ मूर्ख पाप का (घड़ा) भर लेता है ।

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—बिलालपाद सेट्ठि]

१२२. मावमञ्ञेथ पुञ्ञस्स, न मन्तं आगमिस्सति ।
उदबिन्दुनिपातेन, उदकुम्भो पि पूरति ।
धीरो पूरति पुञ्ञस्स, थोकथोकं पि आचिनं ।।७।।

अनुवाद —पुण्य की अवहेलना न करे कि वह मेरे पास नहीं आयेगा जल की बूंद-बूंद गिरने से जल का घड़ा भी भर जाता है । पुण्य का थोड़ा थोड़ा भी संचय करता हुआ धैर्यवान् व्यक्ति पुण्य का घड़ा भर लेता है ।

१ ब०—मावमञ्ञेथ ।
२ ना०—मत्तं ब०—मं दं ।
३. स्या०—आपूरति बालो ।
४ ब०—थोकं थोकं पि ।

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—महाधन वणिक्]

१२३. वाणिजो व भयं मग्गं, अप्पसत्थो महद्धनो ।
विसं जीवितुकामो व, पापानि परिवज्जये ॥८॥

शब्दार्थ :—मग्ग = मार्ग को । अप्पसत्थो = थोड़े साथियों वाला या छोटे काफिले वाला । चारुचन्द्र वसु ने 'अल्पशस्त्र' अर्थ किया है । 'सार्थ'[1] का अर्थ काफिला होता है—'सार्थो वणिक्समूहः स्यात्' मेदिनी ।

अनुवाद :—छोटे काफिले वाला महाधनी व्यापारी जिस प्रकार भययुक्त मार्ग को छोड़ देता है, उसी प्रकार जीने की इच्छा रखने वाला पापों को विष के समान छोड़ दे ।

[स्थान—वेणुवन, व्यक्ति—कुक्कुटमित्र (निषाद)]

१२४. पाणिम्हि चे वणो नास्स, हरेय्य पाणिना विसं ।
नाब्बणं विसमन्वेति, नत्थि पापं अकुब्बतो ॥९॥

शब्दार्थ :—वणो = घाव (सं० व्रण) । नास्स = न हो, संस्कृत न स्यात् । कुछ संस्करणों में इसकी संस्कृत छाया 'नास्य' दी गयी है । नाब्बण = घाव रहित ।

अनुवाद :—यदि हाथ में घाव न हो तो हाथ से विष ले ले, (क्योंकि) विष घाव रहित (अंग) पर प्रभाव नहीं छोड़ता । (उसी प्रकार) न करने वाले को पाप नहीं है ।

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—कोक (सुनखलुद्दक[2])]

१२५. यो अप्पदुट्ठस्स नरस्स दुस्सति,
सुद्धस्स पोसस्स अनङ्गणस्स ।
तमेव बालं पच्चेति पापं,
सुखुमो रजो पटिवातं व खित्तो ॥१०॥

शब्दार्थ—अप्पदुट्ठस्स = दोष रहित (सं० अप्रदुष्ट) । अनङ्गणस्स = निर्लिप्त निरञ्जन । पालि में 'अनङ्ग' शब्द साक्षात् संस्कृत का 'अनङ्ग' न होकर संस्कृत

---

[1] देखिये रघुवंश १७ । ६४ पर मल्लिनाथ । [2] कुत्ते का शिकारी ।

'अञ्जन' का विकृत रूप है । इस प्रकार 'अनङ्गण' का अर्थ होगा—निरञ्जन'[1] ।
पटियेति = पीछा करता है । सुखुमो = सूक्ष्म । पटिवातं = वायु के विपरीत ।
खित्तो = फेंका हुआ ।

अनुवाद—जो दोष रहित, शुद्ध एवं निर्लिप्त पुरुष को दोष लगाता है, पाप, वायु के विपरीत फेंकी हुई महीन धूल के समान उसी मूर्ख का पीछा करता है ।

विशेष :—यही गाथा सुत्तनिपात के १० वें सुत्त 'कोकालि'क सुत्त की छठी गाथा है ।

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—(मणिकार कुलूपग) तिस्स थेर]

१२६. गब्भमेके उप्पज्जन्ति, निरयं पापकम्मिनो ।
सग्गं सुगतिनो यन्ति, परिनिब्बन्ति अनासवा ॥११॥

शब्दार्थ :—निरय = नरक । इसी अर्थ में 'निरय' का प्रयोग संस्कृत में भी होता है । जैसे—'निरयनगरद्वारमुद्घाटयन्ती' भर्तृहरि, १।६३।

अनुवाद :—कुछ व्यक्ति गर्भ से उत्पन्न होते हैं, पापकर्मी नरक में गिरते हैं । सन्मार्ग पर चलने वाले स्वर्ग को जाते हैं और वासनाओं से शून्य चित्त वाले (वीतराग) निर्वाण को प्राप्त होते हैं ।

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—तीन भिक्खु]

१२७. न अन्तलिक्खे न समुद्दमज्झे,
न पब्बतानं विवरं पविस्स ।
न विज्जती सो जगतिप्पदेसो,
यत्थट्ठितो मुञ्चेय्य पापकम्मा ।१२॥

शब्दार्थ :—विवर = गुफा । पविस्स = घुसकर । विज्जती = विद्यमान है ।
मुञ्चेय्य = बच सके (सं० मुच्येत) ।

अनुवाद :—न अन्तरिक्ष में, न समुद्र के बीच में, न पर्वतों की गुफा में

1. 'निरञ्जनो निर्लेपो विगतक्लेश' मुण्डक, ३।१।३ पर शाङ्कर भाष्य ।
[illegible]प ने भी 'अनङ्गणस्स' का अर्थ 'निक्किलेसस्स' ही किया है ।

घुमकर—ससार मे कोई ऐसा स्थान नही है जहा रहकर पापकर्मा (पाप के फलों से) बच सके।

विशेष :—पापकर्म से बच नही सकता' (Not in the sky ... a man might be freed from an evil dead) मैक्सम्यूलर का यह अर्थ मान लेने पर तो ससार में जन्म लेने पर प्राणी निश्चित रूप से पापी होगा तब बोधिसत्त्व या स्वय बुद्ध भी ससार मे जन्म लेने के कारण पाप से मुक्त नही हो सकते, क्षीणास्रव होने पर ही बुद्धत्व लाभ होता है। अत 'पापकम्मा' का अर्थ 'पापकर्मणा' (पञ्चमी विभक्ति) न लेकर 'पापकर्मा' लेना ही उचित होगा।

[स्थान—निग्रोध आराम (कपिलवस्तु) व्यक्ति—सुप्पबुद्ध सक्क[1]]

१२८. न अन्तलिक्खे न समुद्दमज्झे,
न पब्बतानं विवरं पविस्स।
न विज्जती सो जगतिप्पदेसो,
यत्थट्ठितं[2] नप्पसहेय्य मच्चु। १३॥

शब्दार्थ—नप्पसहेय्य = न सतावे (स० न प्रसहेत)।

अनुवाद—न अन्तरिक्ष मे, न समुद्र के बीच मे, न पर्वतो की गुफाओ में घुसकर—ससार मे ऐसा कोई स्थान नही है जहाँ रहने वाले (व्यक्ति) को मौत न सतावे।

---

१०. दण्डवग्गो दसमो

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—छब्बगीय भिक्खु]

१२९. सब्बे तसन्ति दण्डस्स, सब्बे भायन्ति मच्चुनो।
अत्तानं उपमं कत्वा, न हनेय्य न घातये। १।

शब्दार्थ—तसन्ति = डरते हैं। भायन्ति = भयभीत होते हैं।

---

1. शाक्य। 2. स्या—यत्थट्ठितो।

अनुवाद—सभी (प्राणी) दण्ड से डरते हैं सभी मृत्यु से भयभीत होते है। (अत) अपने समान (सभी को) मानकर न किसी को मारे (और) न मारने का प्रेरित करे।

विशेष—किसी प्राणी को स्वय चोट पहुचाना ही नही चोट पहुचाने को प्रेरणा भी नही देनी चाहिये। जो व्यक्ति न दण्ड देता है और न दण्ड देने के लिए प्रेरित करता है महात्मा विदुर ने उसकी बडी प्रशसा की है—

अतिवाद न प्रवदेन्न वादयेद् योऽनाहत प्रतिहन्यान्न घातयेद्।
हन्तु च यो नेच्छति पापक व तस्मै देवा स्पृहयन्त्यागताय ॥
(विदुर नीति ४–११)

१३० सब्बे तसन्ति दण्डस्स, सब्बेस जीवित पियं।
अत्तान उपमं कत्वा, न हनेय्य न घातये ॥२॥

अनुवाद—सभी (प्राणी) दण्ड से डरते हैं सभी को जान प्यारी है। (अत) अपने समान (सभी को) मानकर न किसी को मारे (और) न मारने को प्रेरित करे।

विशेष—यही भाव हितोपदेश के निम्न श्लोक मे भी निहित है—

प्राणा यथात्मनोऽभीष्टा भूतानामपि ते तथा।
आत्मौपम्येन भूतेषु दया कुर्वन्ति साधव ॥
और—आत्मवत् सर्वभूतेषु य पश्यति स पण्डित।

[स्थान—जेतवन व्यक्ति—सम्बहुल कुमार[१]]

१३१ सुखकामानि भूतानि, यो दण्डेन विहिंसति।
अत्तनो सुखमेसानो, पेच्च सो न लभते सुखं[२] ॥३॥

शब्दार्थ—सुखमेसानो = सुख की इच्छा करता हुआ। पेच्च—मरकर (स० प्रेत्य)।

---

१ बहुत से लडके उदान पालि २–४–७ मे जेतवने अनाथपिण्डिकस्स आराम स्थान है।

२ गाथा १३१ तथा १३२ अपने अविकल रूप में उदानपालि के दण्डसुत्त मे उद्धृत हुई हैं।

अनुवाद—अपने सुख की इच्छा करता हुआ जो (मनुष्य) सुख चाहने वाले प्राणियों को दण्ड (शस्त्र) से मारता है वह मर कर भी सुख नहीं पाता।

विशेष—फऊबोल महाशय ने इसी गाथा से मिलते-जुलते दो श्लोकों को उद्धृत किया है—महाभारत अनुशासन पर्व से—

अहिंसकानि भूतानि दण्डेन विनिहन्ति य।
आत्मन सुखमिच्छन् स प्रेत्यनैव सुखी भवेत् ॥११३।५

और मनुस्मृति से—

योऽहिंसकानि भूतानि हिनस्त्यात्मसुखेच्छया।
स जीवश्च मृतश्चैव न क्वचित्सुखमेधते ॥५। ४५

मैक्समूलर ने उपर्युक्त दोनों श्लोकों को प्रकृत गाथा का ही किञ्चित्परिवर्तन के साथ संस्कृत रूपान्तर माना है—

If it were not अहिंसकानि in which Manu and Mahabharat agree, I should say the verses in both were Sanskrit modifications of Pali original. The verse in the Mahabharat presupposes the verse of the Dhamapada.

१३२. सुखकामानि भूतानि, यो दण्डेन न हिंसति।
अत्तनो सुखमेसानो, पेच्च सो लभते सुखं ॥४॥

अनुवाद—अपने सुख की इच्छा करता हुआ जो (मनुष्य) सुख चाहने वाले प्राणियों को दण्ड द्वारा नहीं सताता वह मरकर (भी) सुख प्राप्त करता है।

विशेष—प्राणी मात्र को अभयदान देना ही सर्वोत्कृष्ट दान है, जिसका फल अत्युत्तम कहा गया है—

न गोप्रदानं न महीप्रदानं, न चान्नदानं हि तथा प्रधानम्।
यथा वदन्तीह बुधा प्रधानं, सर्वप्रदानेष्वभयप्रदानम् ॥
(पञ्चतन्त्र, १। ३१३)

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—कुण्डधान थेर]

१३३. मावोच फरुसं कञ्चि, वुत्ता पटिवदेय्यु तं।
दुक्खा हि सारम्भकथा, पटिदण्डा फुसेय्यु तं ॥५॥

शब्दार्थ —फरुसा=कठोर। कञ्चि=कुछ (सं० किञ्चित्)। वुत्ता=सं० उक्ता। सारम्भकथा=क्रोधयुक्त वाक्य। फुसेय्यु=स्पर्श करेंगी (सं० स्पृशेयु)।

अनुवाद :—किञ्चिन्मात्र भी कठोर वचन मत बोलो (क्योंकि कठोरता से बोले गये मनुष्य) तुम्हारे प्रति (भी) वैसा ही बोलेंगे। क्रोधयुक्त वाक्य दुःखदायी होते हैं (उन्हें बोलने से) दण्ड तुम्हारा ही उलटा स्पर्श करेगा।

१३४ स चे नेरेसि अत्तानं, कंसो उपहतो यथा।
एस पत्तोसि निब्बानं, सारम्भो ते न विज्जति ॥६॥

शब्दार्थ —नेरेसि=न+ईरेसि=नहीं चलते हो अर्थात् निःशब्द हो। भदन्त बुद्धघोष ने 'स चे निच्चलं कातुं सक्खिस्ससि' लिखकर 'निश्चल' अर्थ किया है। यह चिन्त्य है। ईर धातु का प्रयोग 'गति' के साथ साथ 'शब्द करने' के अर्थ में भी होता है जैसे— ईरयन्तीव तथा निरैरि, नैषध, १४। २१। उपहतो=टूटा हुआ। पत्तोसि=प्राप्त हो।

अनुवाद :—यदि अपने आपको निःशब्द कर लो जैसे टूटा हुआ कांसा तो तुमने निर्वाण प्राप्त कर लिया (और) तुम्हारे प्रति क्रोधयुक्त वचन नहीं रहे।

[स्थान—पूर्वाराम (श्रावस्ती), व्यक्ति—विशाखादि उपासिका]

१३५. यथा दण्डेन गोपालो, गावो पाचेति[1] गोचरं।
एवं जरा च मच्चु च, आयुं पाचेन्ति पाणिनं ॥७॥

शब्दार्थ —पाचेति=हांक कर ले जाता है (सं० प्राजयति)। गोचरं=चरागाह। पाणिनं=प्राणियों की।

अनुवाद :—जैसे ग्वाला गायों को लाठी से हांक कर चरागाह में ले जाता है वैसे ही बुढ़ापा और मौत प्राणियों की आयु को ले जाते हैं।

[स्थान—राजगृह (वेणुवन), व्यक्ति—अजगर प्रेत]

१३६ अथ पापानि कम्मानि, करं बालो न बुज्झति।
सेहि कम्मेहि दुम्मेधो, अग्गिदड्ढो व तप्पति ॥८॥

---

१. रो०—पाजेति। (सं० प्र+अज)

शब्दार्थ :—करं=करता हुआ। बुज्झति=समझता है। सेहि=अपने (सं० स्वैः), अग्गिदड्ढो व=आग से जले हुये की तरह।

अनुवाद :—पापकर्म करता हुआ मूर्ख (उसे) नहीं समझता (बाद में) दुर्बुद्धि अपने ही कर्मों के कारण आग से जले हुये की तरह सन्तप्त होता है।

विशेष:—हिन्दी के कवि गिरिधर की निम्न कुण्डली से भी यही आशय ध्वनित होता है—

> बिना विचारे जो करै, सो पाछे पछिताय।
> काम बिगारै आपनो, जग में होत हँसाय॥
> जग में होत हँसाय, चित्त में चैन न पावै।
> खान-पान सम्मान, राग रंग मनहिं न भावै॥
> कह गिरधर कविराय, दुःख कछु टरत न टारे।
> खटकत है मन माहिं, कियो जो बिना विचारे॥

[स्थान—राजगृह (वेणुवन), व्यक्ति—महामोग्गल्लान थेर]

१३७. यो दण्डेन अदण्डेसु, अप्पदुट्ठेसु दुस्सति।
दसन्नमञ्ञतरं ठानं, खिप्पमेव निगच्छति॥९॥

शब्दार्थ :—अदण्डेसु=दण्ड के अयोग्य व्यक्तियों में। अप्पदुट्ठेसु=निरपराधों में। दसन्नमञ्ञतरं=दस स्थितियों में से किसी एक को।

अनुवाद :—जो मनुष्य दण्ड के अयोग्य (और) निरपराध व्यक्तियों के प्रति द्वेष करता है वह शीघ्र ही (निम्नलिखित) दस (स्थितियों) में से किसी एक को प्राप्त होता है।

१३८. वेदनं फरुसं जानिं, सरीरस्स च भेदनं।
गरुकं वापि आबाधं, चित्तक्खेपं व पापुणे॥१०॥

शब्दार्थ —जानि=हानि। बुद्धघोष लिखते हैं—"किच्छाधिगतस्स धनस्स जानि हानिं।" इसी आधार पर मैक्समूलर ने loss of money अर्थ किया है। इसका मूल संस्कृत 'ज्यानि' है जिसका एक अर्थ 'बुढ़ापा' भी है। गरुकं=भारी (स्वार्थे 'क' प्रत्यय)। आबाध=बीमारी। चित्तक्खेप=पागलपन। पापुणे=प्राप्त करता है (सं० प्राप्नुयात्)।

अनुवाद :—प्रचण्ड वेदना, धनहानि (या असमय में ही बुढ़ापा), अंगभंग, भारी बीमारी अथवा पागलपन को प्राप्त करता है।

१३९. राजतो वा उपसग्गं[1], अब्भक्खानं व दारुणं।
परिक्खयं[2] व ञातीनं, भोगानं[3] व पभङ्गुणं[2] ॥११॥

शब्दार्थ :—राजतो = राजा से। उपसग्ग = संस्कृत 'उपसर्ग' के बीमारी (क्षीणं हन्युश्चोपसर्गा प्रभूता—सुश्रुत), दुर्भाग्य और नुकसान (रत्नावली १—१०)। अब्भक्खान दारुण = दारुण अभियोग, (बुद्धघोष—अदिट्ठ अस्सुत अचिन्तितपुब्ब इद सन्धिच्छेदकम्म इद वा राजापराधितकम्म तया कत ति एवरूप दारुण अब्भक्खान) स० अभ्याख्यानम्। परिक्खय = नाश। पभङ्गुण = क्षय।

अनुवाद :—अथवा राजा से नुकसान अथवा दारुण निन्दा अथवा जाति भाइयों का विनाश अथवा भोगों का क्षय।

१४०. अथवस्स अगारानि, अग्गि डहति पावको।
कायस्स भेदा दुप्पञ्ञो, निरयं सोपपज्जति ॥१२॥

शब्दार्थ :—अथवस्स = अथवा + अस्स = इसके। अगारानि = घरों को। अग्गि = अग्नि। 'पावको' का अर्थ भी यदि 'अग्नि' माना जाय तो गाथा में पुनरुक्ति दोष होगा। पावकः = तीन, अर्थात् त्रिविध अर्थ लेना ही समीचीन होगा। कायस्सभेदा = शरीर नष्ट होने से। उपपज्जति = प्राप्त होता है (स० उपपद्यते)।

अनुवाद :—अथवा इसके घरों को त्रिविध अग्नि जला देती है। वह दुर्बुद्धि शरीर नष्ट होने के बाद नरक को प्राप्त होता है।

[स्थान—जेतवन व्यक्ति—बहुभण्डिक भिक्खु]

१४१. न नग्गचरिया न जटा न पंका,
नानासका थण्डिलसायिका वा।
रजो च जल्लं उक्कुटिकप्पधानं,
सोधेन्ति मच्चं अवितिण्णकङ्खं ॥१३॥

१. सि०—उपसग्ग। २ ब०—पभगुर, ए० के० नारायण—पभगुण।

शब्दार्थ—नगचरिया—नग्न रहना। पङ्को—कीचड़। नानासका—न + अनशन् थण्डिलसायिका—कड़ी भूमि पर शयन। रजो च जल्लं—जलीय रज। उक्कुटिकप्पधानं—उत्तान-शयन (पाश्चात्य विद्वान् Clough ने the act of sitting on the heels और विल्सन ने sitting on the hams (जंघाओं के बल बैठना), प्पधान—अभ्यास। सोधेन्ति—शुद्ध करते हैं। मच्च—मर्त्य को। अवितिण्ण-कङ्खं—जिसकी आकांक्षायें समाप्त नहीं हुई अर्थात् साकांक्ष।

अनुवाद :—*साकांक्ष मनुष्य को न तो नग्न रहना, न जटायें, न (शरीर में लपेटी हुई) कीचड़, न अनशन (उपवास) या कड़ी भूमि पर शयन, न जलीय रज और न उत्तानशयन का योगाभ्यास (ही) पवित्र कर सकते हैं।*

विशेष :—इस गाथा में अन्य मतावलम्बियों के योगाचारों पर आक्षेप किया गया है। दिगम्बर जैन नंगे रहते हैं, अवधूत जटायें रखाते हैं, शरीर पर कीचड़ आदि लगाते हैं, वैदिक और पौराणिक कड़े उपवासों में विश्वास रखते हैं, शैव भस्म धारण करते हैं और हठयोगी शरीर को कठोर यातनायें देकर कृश करते हैं। भगवान् बुद्ध इन सब में विश्वास नहीं रखते थे। दिव्यावदान में यही गाथा इस प्रकार है—

न नग्नचर्या न जटा न पङ्को, नानशन स्थण्डिलशायिका वा।
न रजोमलं नोत्कुटुकप्रहाणं, विशोधयेन्मोहविलीर्णकाङ्क्षम् ॥१३।२

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—सन्तति महामत्त]

१४२. अलंकतो चे पि समं चरेय्य, सन्तो दन्तो नियतो ब्रह्मचारी।
सब्बेसु भूतेसु निधाय दण्डं,सो ब्राह्मणो सो समणो स भिक्खु॥१४॥

शब्दार्थ—सम = शम भाव। निधाय = परित्याग करके। आर्ष महावाक्यों में 'निधाय' का प्रयोग 'त्याग कर' और 'रखकर' दोनों ही अर्थों में हुआ है, पर लौकिक संस्कृत में 'त्यागना' अर्थ दुष्प्राप्य है।

अनुवाद— (ऐश्वर्य आदि से) अलङ्कृत होने पर भी (जो) सभी प्राणियों के प्रति दण्ड का *त्याग कर* शम भाव से विचरण करता है (और) शान्त,

दान्त (जितेन्द्रिय), नियमित ब्रह्मचारी हैं वही ब्राह्मण है, वही श्रमण है, वही भिक्षु है।

विशेष—यही गाथा यत्किञ्चित् परिवर्तन के साथ दिव्यादान में भी उपलब्ध है—

अलकृतश्चापि चरेत धर्मं, दान्तेन्द्रिय शान्त सयतो ब्रह्मचारी।
सर्वेषु भूतेषु निधाय दड स ब्राह्मण स श्रमण स भिक्षु ॥२३॥३

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—पिलोतिक थेर]

१४३. हिरीनिसेधो पुरिसो, कोचि लोकस्मि विज्जति।
यो निन्दं अप्पबोधति, अस्सो भद्रो कसामिव ॥१५॥

शब्दार्थ—हिरीनिसेधो—लज्जा से अवरुद्ध अर्थात् सलज्ज। मैक्समूलर ने Restrained by shame और भदन्त बुद्धघोष ने 'अत्तनो उप्पन्न अकुसल-वितक्क हिरिया निरोधेनीति हिरीनिधो' परन्तु श्री बगीय ने 'हिरी निसेधो यस्स सो' ही अर्थ किया है अप्पबोधति=नहीं सहन करता है (स० अप्रबोधति, अलपबोधति ?)।

अनुवाद—ससार में ऐसा कौन सलज्ज व्यक्ति होगा जो निन्दा को उसी प्रकार सहन नहीं करता जैसे उत्तम घोडा कोडे को।

१४४. अस्सो यथा भद्रो कसानिविट्ठो, आतापिनो संवेगिनो भवाथ।
सद्धाय सीलेन च वीरियेन च, समाधिना धम्मविनिच्छयेन च।
सम्पन्नविज्जाचरणा पतिस्सता, पहस्सथ दुक्खमिदं अनप्पकं ॥१६

शब्दार्थ—आतापिनो=पश्चाताप करने वाले। भवाथ=हो। सद्धाय=श्रद्धा से, धम्मविनिच्छयेन=धर्म के निश्चय से। सम्पन्नविज्जाचरणा=विद्या और आचरण से समन्वित। पतिस्सता=स्मृतिवान् (स० प्रतिस्मृता)। पहस्सथ=पार करोगे (स० प्रहास्यथ)।

अनुवाद—कोडा पड़े हुये उत्तम घोड़े के समान (तुम भी) पश्चाताप करने वाले एवं वेगवान् (उद्योगी) हो (बनो) श्रद्धा, शील, वीर्य, समाधि और धर्म के निश्चय से युक्त, विद्या और सदाचार से समन्वित (एव) स्मृतिवान् (होकर ही) इस महान् दु ख को पार कर सकोगे।

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—सुख सामणेर]

१४५. उदकं हि नयन्ति नेत्तिका, उसुकारा नमयन्ति तेजनं ।
दारुं नमयन्ति तच्छका, अत्तानं दमयन्ति सुब्बता ॥१७॥

अनुवाद—(पानी) ले जाने वाले (इच्छानुसार) पानी ले जाते हैं, वाण बनाने वाले बेंत को यथेच्छ मोडते हैं, बढई लकडी को मोड देते हैं, अच्छी प्रतिज्ञा (व्रत) वाले अपने का ही दमन करते हैं।

विशेष—यही गाथा 'सुब्बता' के स्थान पर 'पण्डिता' पाठ के साथ (८०) से 'पण्डित वग्ग' मे उपलब्ध होती है।

---

११. जरावग्गो एकादसमो ।

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—विसाखाय सहायिका]

१४६. को नु हासो किमानन्दो, निच्चं पज्जलिते सति ।
अन्धकारेन ओनद्धा, पदीपं न गवेसथ ॥१॥

शब्दार्थ :—पज्जलिते सति—जलते रहने पर । ओनद्धा—ढके हुये (सं० अवनद्धा) पदीपं—दीपक ।

अनुवाद :—हमेशा जलते रहने पर क्या हसी, क्या आनन्द ? अन्धकार से ढके (घिरे) हुये (तुम) दीपक (क्यो) नही ढूढते ?

विशेष :—'सभी प्राणी इस ससार मे निश्य ही काल द्वारा पकाये जाते हैं, यह भाव महाभारत के निम्न श्लोक मे भी प्राप्त होता है।

मासर्तु सतापरिवर्तकेण सूर्याग्निना रात्रिदिवेन्धनेन ।
स्वकर्मनिष्ठाफलसाक्षिकेण भूतानि कालः पचति प्रसह्य ॥
(शा० पर्व० ३२१।९२)

[स्थान—राजगह (वेणुवन), व्यक्ति—सिरिमा]

१४७. पस्स चित्तकतं बिम्बं, अरुकायं समुस्सितं ।
आतुरं बहुसंकप्पं, यस्स नत्थि धुवं ठिति ॥२॥

शब्दार्थः—पस्स—देखो। चित्तकतं—सजाये हुये (वत्थाभरणमालालत्तकादीहि विचित्तं—बुद्धघोष:)। बिम्बं—शरीर। अरुकाय—अरु=घाव (सं० अरुस्) से युक्त शरीर को। समुस्सित—फूला हुआ। बहुसकप्प—अनेक संकल्पों वाले। ठिति—स्थिति।

अनुवादः—(अनेक प्रकार के वस्त्रालंकारादि से) सजाये हुये (किन्तु) घावों से भरे हुये, (मांस, वसा, मज्जा आदि से) फूले हुये, (अनेक दुःखों से) पीड़ित तथा अनेक संकल्पों वाले (इस) शरीर को (तो) देखो जिसकी स्थिति स्थायी नहीं है।

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—उत्तरी थेरी]

१४८. परिजिण्णमिदं रूपं, रोगनीलं[1] पभंगुरं।
भिज्जति पूतिसन्देहो, मरणन्तं हि जीवितं ॥३॥

शब्दार्थः—परिजिण्ण—जीर्ण-शीर्ण। रोगनील—रोगों का घर। पभङ्गुर=क्षण-भंगुर। भिज्जति—नष्ट हो जाता है। पूतिसन्देहो—पूति (दुर्गन्ध)+सन्+देहो (शरीर)—दुर्गन्ध वाला शरीर, अथवा पूति (पवित्रता) में सन्देह अर्थात् जिसकी पवित्रता में सन्देह है।

अनुवादः—यह रूप जीर्ण-शीर्ण होने वाला, रोगों का घर एवं क्षणभंगुर है। दुर्गन्ध से भरा हुआ शरीर नष्ट हो जाता है, क्योंकि जीवन (तो) मरने तक (ही) होता है।

विशेष—कोई भी प्राणी मरने तक ही जीवित कहा जाता है, अन्त में सभी का मरण आवश्यक है—"जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः।" महाभारत के इस श्लोक से तुलना कीजिये जिसका अन्तिम पद गाथा के अन्तिम पद के ही सदृश है

सर्वे क्षयान्ता निचयाः पतनान्ताः समुच्छ्रयाः।
संयोगा विप्रयोगान्ता मरणान्तं हि जीवितम्॥ स्त्रीपर्व, २।३

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—अधिमान भिक्षु]

१४९. यानिमानि अपत्थानि[2], अलाबूनेव[3] सारदे।
कापोतकानि अट्ठीनि, तानि दिस्वान का रति ॥४॥

---

१. सिं०—रोगनिड्ढं। २. म०—अपत्थानि।
३. सिं०—अलाबूनेव।

शब्दार्थ :—अपत्थानि—गुणहीन। मैक्समूलर तथा अधिकांश हिन्दी अनुवादकों ने भी 'फेंक दी गयी' (thrown away) अर्थ किया है। पी वगीय ने बुद्धघोष की टीका (तत्थ अपत्थानीति छड्डितानि) का हवाला देते हुये, दिव्यावदान में प्राप्त इसी भाव के श्लोक को आधार बनाकर 'अपत्थानि' पद को संस्कृत के 'अपास्तानि' का पालिरूप मान बहुप्रचलित अर्थ को ही पुष्ट किया है। एन० क० नारायण ने 'अपथ्यानि' अर्थ किया है। किन्तु हमें Dr. P. L. Vaidya द्वारा किया गया अर्थ 'अपार्थानि' (Worthless) अधिक उपयुक्त जचता है। अलाबूनेव—लौकी की भांति। सारदे—शरद् ऋतु में। अट्ठीनि—अस्थियों को। दिस्वान—देखकर।

अनुवाद:—शरत्कालीन गुणहीन लौकी के समान, कबूतर के रंग वाली इन अस्थियों को देखकर उनमें प्रेम कैसा?

विशेष—दिव्यावदान में यही भाव दूसरे ढंग से प्रस्तुत किया गया है—

यानीमान्यपविद्धानि विक्षिप्तानि दिशो दिश।
कपोतवर्णान्यस्थीनि तानि दृष्ट्वेह का रतिः ॥ ३७। ३३

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—रूपनन्दा थेरी]

१५०. अट्ठीनं नगरं कतं, मंसलोहितलेपनं।
यत्थ जरा च मच्चु च, मानोमक्खो च ओहितो ॥५॥

शब्दार्थ :—अट्ठीनं—अस्थियों का। मानो—अभिमान। मक्खो—पाखण्ड (सं० म्रक्ष)। ओहितो—छिपा है (सं० अवहित)।

अनुवाद:—(यह शरीर) अस्थियों का एक नगर बनाया गया है जिस पर मांस और रक्त का लेप है तथा जिसमें बुढ़ापा, मौत, अभिमान और पाखण्ड छिपे हुये हैं।

विशेष —अनेक दूषित पदार्थों से परिपूर्ण शरीर की निन्दा भगवान् मनु ने इन शब्दों में की है—

अस्थिस्थूणं स्नायुयुतं मांसशोणितलेपनम्।
चर्मावनद्धं दुर्गन्धिपूर्णं मूत्रपुरीषयोः ॥
जराशोकसमाविष्टं रोगायतनमातुरम्।
रजस्वलमनित्यं च भूतावासमिमं त्यजेत् ॥ ६। ७६, ७७

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—मल्लिका देवी]

१५१. जीरन्ति वे राजरथा सुचित्ता, अथो सरीरं पि जरं उपेति ।
सतं च धम्मो न जरं उपेति, सन्तो हवे सब्भि पवेदयन्ति ॥६॥

शब्दार्थ :—जीरन्ति—जीर्ण-शीर्ण हो जाते हैं । सतं—सज्जनों का । सब्भि—सत्पुरुषों से । पवेदयन्ति—बताते हैं ।

अनुवाद:—राजा के सुचित्रित रथ जीर्ण-शीर्ण हो जाते हैं तथा (यह) शरीर भी जरावस्था को प्राप्त हो जाता है । किन्तु सन्तों का धर्म (कभी) बूढ़ा नहीं होता, सज्जन पुरुष सज्जनों से ऐसा ही कहते हैं ।

विशेष :—धर्म न कभी बूढ़ा होता है और न कभी वह नष्ट ही होता है मृत्यु के बाद भी वह मनुष्य का साथ नहीं छोड़ता । आर्ष वाक्य है—

एक एव सुहृद्धर्मो निधनेऽप्यनुयाति यः ।
शरीरेण समं नाशं सर्वमन्यत्तु गच्छति ॥

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—(लाल) उदायी थेर]

१५२. अप्पस्सुतायं पुरिसो, बलिबद्दो व जीरति ।
मंसानि तस्स वड्ढन्ति, पञ्ञा तस्स न वड्ढति ॥७॥

शब्दार्थः—अप्पस्सुतायं—यह अल्पज्ञ (सं० अल्पश्रुतोऽयं) । बलिवद्दो—बैल ।

अनुवाद :—यह अल्पज्ञ मनुष्य बैल की तरह बूढ़ा हो जाता है । उसके मांस आदि (तो) बढ़ते हैं किन्तु उसकी बुद्धि नहीं बढ़ती ।

[स्थान—बोधिरुक्खमूल, व्यक्ति—उदानवसेन वुत्त (पुन आनन्दत्थेरस्सवुत्त [1])]

१५३. अनेक जातिसंसारं, सन्धाविस्सं अनिब्बिसं ।
गहकारं[2] गवेसन्तो, दुक्खा जाति पुनप्पुनं ॥८॥

शब्दार्थ :—संधाविस्सं—दौड़ता रहा । मैक्समूलर ने भविष्यद् काल मानकर I shall have to run अर्थ किया है । बुद्धघोष ने सुद् का अर्थ

१. ए० के० नारायण द्वारा सम्पादित संस्करण में स्थान-व्यक्ति का निर्देश नहीं है ।
२. सि०—गहकारकं ।

माना है। अनिविस—बिना ज्ञान प्राप्त किये (आणं अलभन्तो—बुद्धघोष) ए० के० नारायण ने इसकी संस्कृत छाया 'अनिविशमान' देकर 'लगातार' और श्री कन्हैयालाल गुप्त ने 'अनिविशमान' (जाता हुआ) अर्थ किया है।

अनुवाद:—(शरीर रूपी) घर के बनाने वाले की खोज करता हुआ, बिना ज्ञान प्राप्त किये अनेक जन्मों तक (मैं) संसार में दौड़ता रहा। बार-बार का जन्म दुःखमय हुआ।

> १५४. गहकारक दिट्ठोसि, पुन गेहं न काहसि।
> सब्बा ते फासुका भग्गा, गहकूटं विसंखतं।
> विसंखारगतं चित्तं, तण्हानं खयमज्झगा॥६॥

शब्दार्थ—काहसि=करोगे। फासुका=कड़ियां। विसंखतं=टूट गया है (सं० विसंस्कृतम्)। तण्हानं=तृष्णाओं का। खयमज्झगा=क्षय हो गया है। गहकूट=घर का शिखर अर्थात् बारह निदानों की कोटि अविद्या।

अनुवाद—हे घर बनाने वाले (अर्थात् तृष्णा) मैंने तुम्हें देख लिया, तुम अब घर न बना पाओगे। तुम्हारी सब कड़ियां (बारहों निदान) टूट गयी हैं, घर का शिखर (अविद्या) ढह गया है, चित्त संस्कार से रहित हो गया, तृष्णाओं का विनाश हो गया।

विशेष—उपर्युक्त गाथा में सांख्य का यह सिद्धान्त कि जब विवेक-बुद्धि प्राप्त होने के बाद पुरुष प्रकृति को देख लेता है तब प्रकृति भी उस पुरुष के प्रति प्रवृत्त नहीं होती, उसी प्रकार जैसे कि असूर्यम्पश्या स्त्री पतिव्यतिरिक्त व्यक्ति के द्वारा देख लिये जाने पर भविष्य में इस घटना की पुनरावृत्ति न होने देने के प्रति सजग रहती है, और पुरुष भी सुन्दरी के दर्शन की लालसा से पृथक् हो जाता है, तब मोक्ष होता है, प्रकारान्तर से प्रस्तुत किया गया है। सांख्यकारिका की कारिका है—

> प्रकृतेः सुकुमारतरं न किञ्चिदस्तीति मे मतिर्भवति।
> या दृष्टाऽस्मीति पुनर्न दर्शनमुपैति पुरुषस्य॥

टिप्पणी—उपर्युक्त दोनों गाथायें स्थविरवादी बौद्ध परम्परा में बुद्धत्व-प्राप्ति के बाद भगवान् बुद्ध के 'प्रथम वचन' के रूप में मानी जाती हैं।

Sir Edwin Arnold ने इन गाथाओं को अंग्रेजी मे कितने सुन्दर ढग से अभिव्यक्त किया है—

Many a house of life
Hath held me-seeking even him who wrought
These Prisons of the senses, sorrow frought :
Sore was my ceaseless strife,
But now
Thou Builder of this tabernacle—Thou !
I know Thee ! never shall Thou build again,
These walls of pain,
Nor raise the roof – tree of deceits, nor lay
Fresh rafters on the clay.
Broken Thy house is, and the ridge-pole split !
Delusion fashioned it !
Safe pass I them-deliverance to obtain.

(टी पी० एस० वैद्य के सस्करण मे साभार उद्धृत)

[स्थान—इसिपतन (वाराणसी), व्यक्ति—महाधनी सेट्ठिपुत्त]

१५५. अचरित्वा ब्रह्मचरियं, अलद्धा योब्बने धनं।
जिण्णकोञ्चा' व झायन्ति खीणमच्छे' व पल्लले ॥१०॥

शब्दार्थ—अलद्धा = प्राप्त न करके. योब्बने = युवावस्था में । जिण्णकोञ्चा' व—वृद्ध क्रौञ्च की तरह । झायन्ति = चिन्ता करते हैं। पल्लले = तालाब मे ।

अनुवाद—ब्रह्मचर्य का आचरण न कर (और) युवावस्था मे धन न प्राप्त कर (मनुष्य वृद्धावस्था मे) उसी प्रकार चिन्ता करते हैं जैसे मछली रहित तालाब मे बूढा क्रौञ्च ।

१५६ अचरित्वा ब्रह्मचरियं, अलद्धा योब्बने धनं।
सेन्ति चापातिखीणा' व, पुराणानि अनुत्थुनं ॥११॥

शब्दार्थ—सेन्ति—पडे रहते हैं । अनुत्थुनं—सोचते हुये (स० अनुस्तुवन) यहां एकवचन का प्रयोग व्याकरण सम्मत नहीं है ।

अनुवाद—ब्रह्मचर्य का आचरण न कर (और) युवावस्था में धन प्राप्त न कर (वृद्धावस्था में) मनुष्य अत्यन्त कमजोर धनुष के समान पुरानी बातों को सोचते हुये पड़े रहते हैं।

---

१२. अत्तवग्गो द्वादसमो

[स्थान—सुसुमारगिरि (भेसकलावन), व्यक्ति—बोधिराजकुमार]

१५७. अत्तानं चे पियं जञ्ञा, रक्खेय्य नं सुरक्खितं।
तिण्णमञ्ञतरं यामं, पटिजग्गेय्य पण्डितो ॥१॥

शब्दार्थ :—जञ्ञा = समझे (सं० जानीयात्)। रक्खेय्य नं = इसे रक्खे। तिण्णं = तीन में से। यामं = रात्रि या दिन का तीन घन्टे का समय। बुद्धघोष ने तीन याम का अर्थ जीवन की तीन अवस्थाओं—प्रथम, मध्यम और पश्चिम लिया है। पटिजग्गेय्य = जागृत रहे।

अनुवाद—यदि आत्मा को प्रिय समझे (तो) इसे सुरक्षित (संयत) रखे। विद्वान् मनुष्य (जीवन के) तीन यामों (अवस्थाओं) में से एक में (अवश्य) जागृत रहे।

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—शाक्यपुत्र उपनन्द थेर]

१५८. अत्तानमेव पठमं, पतिरूपे निवेसये।
अथञ्ञमनुसासेय्य, न किलिस्सेय्य पण्डितो ॥२॥

शब्दार्थ—पतिरूपे—सन्मार्ग में (अनुच्छवि के गुणों में प्रतिष्ठित करे—बुद्धघोष)। अनुसासेय्य—अनुशासित करे अर्थात् उपदेश दे (सं० अनुशिष्यात्)। किलिस्सेय्य—क्लेश को प्राप्त हो।

अनुवाद :—पहले अपने को ही सन्मार्ग में लगावे, बाद में दूसरे को उपदेश दे। (इस प्रकार कार्य करने वाला) क्लेश को प्राप्त नहीं हो

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—पधानिक तिस्स थेर]

१५९. अत्तानं चे तथा कयिरा, यथञ्ञमनुसासति।
सुदन्तो वत दमेथ, अत्ता हि किर [illegible]

शब्दार्थ :—वत—वास्तव मे (सं० वत)। दमेथ—दमन करे। किर—निश्चय ही। दुद्दमो—दुदमनीय।

अनुवाद :—यदि (मनुष्य) अपने को वैसा ही बना ले जैसा कि दूसरे को उपदेश देता है (तो भी) वह सुसयमी वास्तव मे (अपने का ही) दमन करे, क्योकि अपना दमन करना निश्चय ही कठिन है।

विशेष :—मैक्सम्यूलर तथा उनका अनुसरण करते हुए डा० पी० एल० वैद्य ने गाथा के तृतीय पाद का अनुवाद being himself well subdued, he may subdue (others) किया है, जो भ्रामक है। गाथा का अन्तिम पद अपनी ही आत्मा के दमन को 'कठिन' बता रहा है तो उससे पूर्व का पद भी निश्चय ही स्वात्मा के दमन परक भाव से सम्बन्ध होना चाहिये। श्री ए० के० नारायण ने अपने हिन्दी अनुवाद मे ऐसा ही किया है।

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—कुमारकस्सपमातु थेरी]

१६०. अत्ता हि अत्तनो नाथो, को हि नाथो परो सिया।
अत्तना हि सुदन्तेन, नाथं लभति दुल्लभं ॥४॥

अनुवाद :—(मनुष्य) अपना स्वामी आप है, (इसका) स्वामी दूसरा कौन होगा? भली-भाँति दमन किया गया (वह) स्वयं दुर्लभ स्वामित्व का लाभ करता है।

विशेष :—वशीकृत आत्मा ही अपना स्वामी है बन्धु है, अत आत्मा के द्वारा आत्मा का दमन करने से ही निःश्रेयस् की प्राप्ति सम्भव है। गीता मे कृष्ण ने कहा है—

उद्धरेदात्मनाऽऽत्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥
बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥६। ५—६

[स्थान—राजगह (वेणुवन), व्यक्ति—भगवान् बुद्ध[1]]

१६३. सुकरानि असाधूनि, अत्तनो अहितानि च ।
यं वे हितं च साधुं च, तं वे परमदुक्करं ॥७॥

अनुवाद :—बुरे और अपना अहित करने वाले कार्यों का करना बड़ा आसान है। जो कार्य हितकारी और अच्छा है उसका करना अत्यन्त कठिन है।

विशेष —उदानपालि के सघभेदसुत्त मे, देवदत्त और आनन्द मे कलह के अवसर आनन्द के प्रति भगवान बुद्ध के वचन के रूप मे निम्नलिखित गाथा को उद्धृत किया गया है—

सुकरं साधुना साधु, साधु पापेन दुक्करं ।
पापं पापेन सुकरं, पापमरियेहि दुक्करं ॥

धम्मपदट्ठ-कथा के अग्रेज़ी सस्करण मे भ्रम से इस गाथा को धम्मपद की मूल गाथा मान लिया गया है।

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—काल थेर]

१६४. यो सासनं अरहतं, अरियानं धम्मजीविनं ।
पटिक्कोसति दुम्मेधो, दिट्ठिं निस्साय पापिकं ।
फलानि कट्ठकस्सेव, अत्तघाताय[2] फल्लति ॥८॥

शब्दार्थ :—पटिक्कोसति—निन्दा करता है (स० प्रतिक्रोशति)। दिट्ठि—दृष्टि। निस्साय—आश्रय लेकर (स० निःश्रित्य)। फलानि कट्ठकस्सेव—बांस के फलो की भाति। सस्कृत मे 'काष्ठक' मुसब्बर या घोल (Aloe) के पौधे को कहते हैं पर टीकाकार बुद्धघोष ने "वेलुसखातस्स कट्ठकस्स" लिखकर अपनी पुष्टि के लिये चुल्लवग्ग की निम्न गाथा को उद्धृत किया है जिसमें केला, बास और बेंत के फलने पर उनका समूल नष्ट होना बताया गया है—

फलं वे कदलिं हन्ति, फलं वेलुं फलं नलं ।
सक्कारो कापुरिसं हन्ति, गब्भो अस्सतरिं तथा ॥ ७—२—५

अनुवाद :—जो दुर्बुद्धि (मनुष्य) पापमयी दृष्टि का आश्रय लेकर

---

१ सघ के फूट पड़ने के समय आनन्द के प्रति भगवान् बुद्ध ने इस गाथा को कहा था। २ सिं०—अत्तघञ्ञाय।

मिथ्या दृष्टि का आश्रय लेकर जो दुर्बुद्धि मनुष्य अर्हन्त, आर्य तथा धर्मजीवी श्रेष्ठ अर्हतों के शासन की निन्दा करता है (उसका यह कुकर्म) बांस के फलों की भांति अपनी ही हत्या के लिये फलता है।

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—चूलकाल उपासक]

१६५. अत्तना हि[1] कतं पापं, अत्तना संकिलिस्सति।
अत्तना अकतं पापं, अत्तना व विसुज्झति।
सुद्धी असुद्धि पच्चत्तं, नाञ्ञो[2] अञ्ञं विसोधये ॥६॥

शब्दार्थ :—संकिलिस्सति—क्लेश देता है। विसुज्झति—शुद्ध करता है। पच्चत्त—प्रत्येक मनुष्य (सं० प्रत्यात्मन्)।

अनुवाद :—अपने द्वारा किया गया पाप अपने को ही क्लेश देता है। अपने द्वारा न किया गया पाप अपने को ही शुद्ध करता है। (अतः) शुद्धि और अशुद्धि प्रत्येक मनुष्य पर निर्भर है। कोई (किसी) दूसरे का शुद्ध नहीं कर सकता।

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—अत्तदत्थ थेर]

१६६. अत्तदत्थं परत्थेन, बहुना पि न हापये।
अत्तदत्थमभिञ्ञाय, सदत्थपसुतो सिया ॥१०॥

शब्दार्थ—अत्तदत्थ—अपने लिये। हापये—त्यागना चाहिये। सदत्थपसुतो—सदर्थ (कल्याण) के साधन में संलग्न (सं० सदर्थप्रसित)।

अनुवाद —दूसरे के बहुत हित के लिये भी अपने हित का त्याग नहीं करना चाहिये। अपने हित को भली-भांति समझकर सुहित (कल्याण) के साधन में संलग्न हो जाय।

विशेष :—अपनी और अपने हितों की रक्षा करने में धन, स्त्री, पुत्र सभी कुछ अर्पण कर देना पड़े तो भी कोई बात नहीं है—

आपदर्थं धनं रक्षेद् दारान् रक्षेद् धनैरपि।
आत्मानं सततं रक्षेद् दारैरपि धनैरपि॥
(विदुर नीति, १। १८)

---

१ सि०—च। २. सि०—नाञ्ञमञ्ञो।

१३. लोकवग्गो तेरसमो

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—अञ्ञतर दहर[1] भिक्खु]

१६७. हीनं धम्मं न सेवेय्य, पमादेन न संवसे।
मिच्छादिट्ठिं न सेवेय्य, न सिया लोकवड्ढनो ॥१॥

शब्दार्थ—हीन धम्म—नीच धर्म बुद्धघोष ने 'पञ्चकामगुण' किया है पञ्चकामगुण हैं—चक्खुविञ्ञेय्या रूपा, सोतविञ्ञेय्या सद्दा, घानविञ्ञेय्या गन्धा, जिह्वाविञ्ञेय्या रसा, कायविञ्ञेय्या फोट्ठब्बा (दीघनिकाय तृतीय भाग)। संवसे—रहे। लोकवड्ढनो—संसार अर्थात् आवागमन को बढ़ाने वाला।

अनुवाद—नीच धर्म का सेवन न करे, प्रमाद के साथ न रहे। मिथ्या दृष्टि का सेवन न करे, (संसार में) आवागमन को बढ़ाने वाला न बने।

[स्थान—निग्रोधाराम (कपिलवस्तु), व्यक्ति—सुद्धोदन]

१६८. उत्तिट्ठे नप्पमज्जेय्य, धम्मं सुचरितं चरे
धम्मचारी सुखं सेति, अस्मिं लोके परम्हि च ॥२॥

शब्दार्थ—उत्तिट्ठे=उठ पड़े। फउबोल ने Surgat तथा मैक्समूलर ने Rouse thyself अर्थ किया है। लेकिन बुद्धघोष ने 'घर घर से भिक्षा मांगे' (उत्तिट्ठे ति उत्तिट्ठ परेस घरद्वारे ठत्वा गहेतब्ब पिण्डे) अर्थ किया है ऐसा प्रतीत होता है कि बौद्ध धर्म में प्रारम्भ से ही 'उत्तिष्ठ' क्रियापद का व्यवहार घर-घर से भिक्षा करने के लिये उठ खड़े हों' के विशिष्ट अर्थ में होने लगा था जैसा कि अन्य दर्शन परम्पराओं में भी उत्तिष्ठ जाग्रत आदि शब्दों का प्रयोग साधारण उठ पड़ने और नींद त्याग देने के अर्थ में न होकर विशिष्ट आध्यात्मिक अर्थ में होता है। नप्पमज्जेय्य—(न+प्रमाद्येत्) प्रमाद न करे।

अनुवाद—(भिक्षु बनने के लिये) उठ पड़े, प्रमाद न करे, सदाचारयुक्त धर्म का आचरण करे। धर्म का आचरण करने वाला इस लोक में तथा परलोक में चैन से सोता है।

---

१. दहर=अल्पवयस्क।

१६९. धम्मं चरे सुचरितं, न नं, दुच्चरितं चरे ।
धम्मचारी सुखं सेति, अस्मिं लोके परम्हि च ॥३॥

अनुवाद:—सदाचार युक्त धर्म का आचरण करे, दुराचार युक्त धर्म का आचरण न करे। धर्म का आचरण करने वाला इस लोक में तथा परलोक में चैन से सोता है।

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—पञ्चसत विपस्सक भिक्खु]

१७०. यथा बुब्बुलकं पस्से, यथा पस्से मरीचिकं ।
एवं लोकं अवेक्खन्तं, मच्चुराजा न पस्सति ॥

अनुवाद :—जिस प्रकार (मनुष्य) बुलबुले को देखता है तथा (मृग) रेगिस्तान में जल को देखता है, उसी प्रकार संसार को देखने वाले (व्यक्ति) को मृत्युराजा (यम, मृत्यु या मार) नहीं देखता।

विशेष :—सुत्तनिपात की निम्न गाथा से तुलना कीजिये—
सुञ्ञतो लोकं अवेक्खस्सु मोघराज सदा सतो।
अत्तानुदिट्ठिं ऊहच्च एवं मच्चुतरो सिया।
एवं लोकं अवेक्खन्तं मच्चुराजा न पस्सति ॥ ५ । १६ । ४

[स्थान—राजगृह (वेणुवन), व्यक्ति—अभय राजकुमार]

१७१. एथ पस्सथिमं लोकं, चित्तं राजरथूपमं ।
यत्थ बाला विसीदन्ति, नत्थि संगो विजानतं ॥५॥

शब्दार्थ :—एथ—आओ (सं० एत)। पस्सथिमं—पश्यत + इमं। संगो—आसक्ति। विजानतं—विज्ञों की।

अनुवाद :—आओ, राजरथ के समान विचित्र इस संसार को देखो जिसमें मूर्ख दुःखी होते हैं और विज्ञों की आसक्ति नहीं होती।

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—सम्मुञ्जनि थेर]

१७२. यो च पुब्बे पमज्जित्वा, पच्छा सो नप्पमज्जति ।
सो इमं लोकं पभासेति, अब्भा मुत्तो व चन्दिमा ॥६॥

शब्दार्थ:—पुब्बे—पहले। पमज्जित्वा—प्रमाद करके (सं० प्रमाद्य)। पच्छा—पश्चात्। पभासेति—प्रकाशित करता है। अब्भा—बादल से। मुत्तो—मुक्त। चन्दिमा—चन्द्रमा।

अनुवाद :—और जो पहले प्रमाद करके (भी) बाद में प्रमाद नहीं करता। वह इस लोक को वैसे ही प्रकाशित करता है जैसे कि बादलों से निकला हुआ चन्द्रमा।

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—अंगुलिमाल थेर]

१७३. यस्स पापं कतं कम्मं, कुसलेन पिधीयति[1]।
सो इमं लोकं पभासेति, अब्भा मुत्तो' व चन्दिमा ।७।

शब्दार्थ—कुसलेन = पुण्य कर्म से। पिधीयति = ढक जाता है।

अनुवाद—जिसका किया हुआ पाप कर्म पुण्य कर्म से ढक जाता है, वह इस लोक को वैसे ही प्रकाशित करता है जैसे कि बादलों से निकला हुआ चन्द्रमा।

[स्थान—अग्गालव चेतिय, व्यक्ति—पेसकारधीता[2]]

१७४. अन्धभूतो अयं लोको, तनुकेत्थ विपस्सति।
सकुणो जालमुत्तो' व, अप्पो सग्गाय गच्छति ।८।

शब्दार्थ—तनुकेत्थ = (तनुको + एत्थ) यहां, अल्प। सकुणो = पक्षी। अप्पो = अल्प। सग्गाय = स्वर्ग के लिये।

अनुवाद—यह संसार अन्धा है। यहां बहुत थोड़े ही लोग देखते हैं। जाल से छूटे हुये पक्षी की भाँति कोई विरला ही स्वर्ग को जाता है।

विशेष—यही भाव गीता में इस प्रकार व्यक्त किया गया है—

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद् यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः ॥७।३

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—तिंस भिक्खु]

१७५. हंसादिच्चपथे यन्ति, आकासे यन्ति इद्धिया।
नीयन्ति धीरा लोकम्हा, जेत्वा मारं सवाहिनिं[3] ।९।

शब्दार्थ—हंसादिच्चपथे = हंस (या योगी), आदिच्चपथे = आकाश में। यन्ति = जाते हैं। इद्धिया = ऋद्धि (ऐश्वर्य) प्राप्त। नीयन्ति = ले जाये जाते हैं। लोकम्हा = लोक से। सवाहिनिं = सेना सहित।

---

१ सि—पिधीयति। २. रंगरेज की दुहिता। ३. स्या० सवाहनं।

'the other people here sun up and down the shore"

अनुवाद:—हंस आकाश में जाते हैं, ऋद्धिप्राप्त (भी) आकाश में गमन करते हैं। धैर्यशाली लोग सेना सहित मार को जीतकर इस संसार से ले जाये जाते हैं।

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति चिञ्चा माणविका]

१७६. एकं धम्मं अतीतस्स, मुसावादिस्स जन्तुनो।
दितिण्णपरलोकस्स, नत्थि पापं अकारियं ।१०।

शब्दार्थ—एक धम्मं अतीतस्स=एक धर्म (मैक्सम्यूलर— one law, डा० एस० राधाकृष्णन्—बुद्धप्रवर्तित धर्म, बुद्धघोष—सत्य) का अतिक्रमण करने वाले का। मुसावादिस्स=मृषावादी का। वितिण्ण परलोकस्स=परलोक के प्रति उदासीन का।

अनुवाद—एक धर्म (सत्य) का अतिक्रमण करने वाले, मृषावादी तथा परलोक के प्रति उदासीन प्राणी के लिये ऐसा कोई पाप नहीं है जो अकार्य हो।

विशेष—यह गाथा इतिवुत्तक के मुसावादसुत्त में भी उद्धृत हुई है।

[स्थान—जेतवन, असदिसदान (के सम्बन्ध में)

१७७. न वे कदरिया देवलोकं वजन्ति,
बाला ह वे न प्पससन्ति दानं।
धीरो च दानं अनुमोदमानो,
तेनेव सो होति सुखी परत्थ ।११।

शब्दार्थ—वजन्ति=जाते हैं (सं० व्रजन्ति)। न प्पसंसन्ति=प्रशंसा नहीं करते। तेनेव=उसी से।

अनुवाद—कंजूस लोग देवलोक को नहीं जाते हैं। मूर्ख दान की प्रशंसा नहीं करते हैं। किन्तु दान का अनुमोदन करता हुआ धैर्यशाली (उसी से) परलोक में भी सुखी होता है।

विशेष—भारतीय संस्कृति में 'दान' की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की गयी है।

ऋग्वेदीय 'दानसूक्त' इसका सर्वोत्तम उदाहरण है। दान न देने वाला स्वर्ग व अधिकारी नही है। ईसा मसीह ने भी जोरदार शब्दों मे कहा था—

दान न देने वाले कञ्जूस के धन की क्या हालत होती है ? इस श्लोक देखिये —

जनयति हृदिखेद मङ्गल न प्रसूते, परिहरति यशासि ग्लानिमाविष्करोति
उपकृतिरहिताना सर्वभोगच्युताना, कृपणकरगताना सम्पदा दुर्विपाकः।

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—अनाथपिण्डिक पुत्रकाल]

१७८. पथव्या एकरज्जेन, सग्गस्स गमनेन वा।
सब्बलोकाधिपच्चेन, सोतापत्तिफलं वरं ।१२।

अनुवाद—पृथ्वी के एकच्छत्र राज्य से, स्वर्ग मे जाने से अथवा समस्त लोको के आधिपत्य से (भी) श्रोतापत्तिफल श्रेष्ठ है।

विशेष—बुद्ध, धर्म सघ तथा शील मे विश्वास रखने वाले श्रोतापन्न श्रावक के सक्कायदिट्ठि, विचिकिच्छा और सीलब्बतपरामास–इन सयोजनो का क्षय हो जाता है। तब, उसे निर्वाण प्राप्ति तक केवल सात बार जन्म और लेना होता है। श्रोतापत्ति फल के चार अङ्ग—सप्पुरिस ससेव, सद्धम्मसवन, योनिसोमनसिकारो धम्मानुधम्मपटिपत्ति माने गये हैं। इन चारो अङ्गो को प्राप्त कर लेने के बाद श्रोतापन्न श्रावक निश्चय ही निरयादि समस्त दु खो से मुक्त हो निर्वाण प्राप्ति की ओर अग्रसर होता है। इसी लिये चक्रवर्तित्व अथवा स्वर्ग प्राप्ति से भी श्रेष्ठ 'सोतापत्तिफल' बताया गया है। निर्वाण का प्रारम्भ श्रोतापत्ति मार्ग से होता है और अर्हत्व फल मे जाकर पूर्ण होता है।

---

१४. बुद्धवग्गो चुद्दसमो

[स्थान—बोधिमण्ड, व्यक्ति—मारधीतरो[1]]

१७९. यस्स जितं नावजीयति, जितं[2] यस्स नोयाति कोचि लोके।
तं बुद्धमनन्तगोचरं, अपदं केन पदेन नेस्सथ ।१।

शब्दार्थ—नावजीयति = (न + अवजीयते) पराजित नहीं किया जाता (यस्स सम्मासम्बुद्धस्स तेन तेन मग्गेन जितं रागादिकिलेसजातं असमुदाचरणतो नावजीयति दुज्जितं नाम न होति)। कोचि = कोई (सं० कश्चित्)। नेस्सथ = ले जाओगे अर्थात् अस्थिर करोगे।

१८०. यस्स जालिनी विसत्तिका, तण्हा नत्थि कुहिञ्चि नेतवे।
तं बुद्धमनन्तगोचरं, अपदं केन पदेन नेस्सथ ॥२॥

शब्दार्थ :—जालिनी = बन्धन मे डालने वाली। विसत्तिका = विषरूपी (सं० विषात्मिका)। कुहिञ्चि = कहीं भी (सं० कुत्रचित्)। नेतवे = नेतुम् (सं० नेतुम्)।

अनुवाद :—जिसे बन्धन मे डालने वाली, विषरूपी तृष्णा कहीं भी नहीं ले जा सकती, उस अनन्त, गोचर एवं पद (स्थान) रहित (अर्थात् सार्वभौम) बुद्ध (ज्ञानी) को किस पद (उपाय) से अस्थिर करोगे ?

[स्थान—सङ्करसनगरद्वार, व्यक्ति—बहुदेवमनुस्स]

१८१. ये झानपसुता धीरा, नेक्खम्मूपसमे रता।
देवापि तेसं पिहयन्ति, सम्बुद्धानं सतीमतं ॥३॥

शब्दार्थ—झानपसुता = ध्यान मे रत (सं० ध्यानप्रसृता)। नेक्खम्मूपसमे = नेक्खम = प्रव्रज्या (सं० नैष्क्रम्य)। उपसमे = परम शान्ति अर्थात् निर्वाण मे। बुद्धघोष ने इसे इस प्रकार स्पष्ट किया है—

"नेक्खम्मूपसमे रता ति एत्थ पब्बज्जा नेक्खम्मन्ति न गहेतब्बा किलेसवूपसमनिब्बानरतिं पन सन्धायेतं वुत्तं।"

---

1. पं० प नारायण सम्पादित संस्करण मे व्यक्ति "मागन्दिय" (ब्राह्मण) है।
2. सि०—जितमस्स।

अनुवाद :—जो ध्यान मे संलग्न हैं, धैर्यशाली हैं, प्रव्रज्या (भिक्षुत्व) के द्वारा परमशान्ति अर्थात् निर्वाण मे रत हैं, उन स्मृतिमान् सम्बुद्धो की देवता भी स्पृहा करते हैं।

[स्थान—वाराणसी, व्यक्ति—एरकपत्त नागराज]

१८२. किच्छो मनुस्सपटिलाभो, किच्छं मच्चान जीवितं।
किच्छं सद्धम्मस्सवनं, किच्छो बुद्धानमुप्पादो ॥४॥

शब्दार्थ—किच्छो=कठिन (सं० कृच्छ्र)। मनुस्सपटिलाभो=मनुष्य जन्म का लाभ। मच्चान=मनुष्यो का। उप्पादो=उत्पत्ति।

अनुवाद :—मनुष्य जन्म का लाभ कठिन है, (जन्म लेकर भी) मनुष्यो का जीवन कठिन है, (जीवित रह कर भी) सद्धर्म का सुनना कठिन है, बुद्धो की उत्पत्ति कठिन है।

विशेष :—निम्नाद्धृत सूक्ति से तुलना कीजिये—

मानुष्ये सति दुर्लभा पुरुषता पुंस्त्वे पुनर्विप्रता,
विप्रत्वे बहुविद्यताऽतिगुणता विद्यावतोऽर्थज्ञता।
अर्थज्ञस्य विचित्रवाक्यपटुता तत्रापि लोकज्ञता,
लोकज्ञस्य समस्तशास्त्रविदुषो धर्मे मति दुर्लभा॥

[स्थान—जेतवन व्यक्ति—आनन्द थेर]

१८३. सब्बपापस्स अकरणं, कुसलस्स उपसम्पदा[1]।
सचित्तपरियोदपनं, एतं बुद्धान सासनं ॥५॥

शब्दार्थ :—अकरण=न करना। कुसलस्स उपसम्पदा=पुण्य कर्मो का व्रत ग्रहण करना (उपसम्पदा ति अभिनिक्खमनतो पट्ठाय याव अरहत्तमग्गा कुसलस्स उप्पादनञ्चेव उप्पादितस्स च भावना—बुद्धघोष)। सचित्तपरियोदपनं=स (स्व) अपने, चित्त को परिशुद्ध करना (पञ्चहि नीवरणेहि अत्तनो चित्तस्स वोदपनं—बुद्धघोष)।

अनुवाद :—सभी पापो का न करना, पुण्य कर्मो का व्रत ग्रहण करना (तथा) अपने चित्त को परिशुद्ध करना—यह बुद्धो की शिक्षा है।

---

१. स्या०—कुसलस्सूपसम्पदा।

१८४. खन्ती परमं तपो तितिक्खा,
निब्बानं[1] परमं वदन्ति बुद्धा ।
न हि पब्बजितो परूपघाती,
समणो होति परं विहेठयन्तो ॥६॥

शब्दार्थ—खन्ती = क्षमा (सं० क्षान्ति)। तितिक्खा—सहनशीलता। परूपघाती—दूसरों को हानि पहुंचाने वाला। विहेठयन्तो = घृणा करता हुआ (सं० विहेडयन्)।

अनुवाद :—क्षमा (और) सहनशीलता परम तप हैं। बुद्ध लोग निर्वाण को परम पद बताते हैं। दूसरों को हानि पहुंचाने वाला प्रव्रजित नहीं होता, दूसरों के प्रति घृणा करता हुआ (भी) श्रमण नहीं होता।

विशेष :—मैक्समूलर ने 'खन्ती' को 'परम तपो' के साथ और 'तितिक्खा' को 'परम निब्बान' के साथ जोड़कर 'Patience the highest penance, long suffering the highest Nirvan' अनुवाद किया है। पर बौद्ध दर्शन में 'निब्बाण' साध्य और 'तितिक्खा' एक साधन है। अतः साध्य और साधन को एक बना देना नितान्त असंगत है। भदन्त बुद्धघोष ने इसे स्पष्ट किया है—"खन्तीति या एसा तितिक्खासखाता खन्ती नाम। इद इमस्मि सासने परमं उत्तमं तपो। निब्बानं परमं वदन्ति बुद्धा ति बुद्धा च पच्चेकबुद्धा च अनुबुद्धा चाति इमे तयो बुद्धा निब्बानं उत्तमति वदन्ति।"

१८५. अनूपवादो अनूपघातो[2], पातिमोक्खे च संवरो।
मत्तञ्ञुता च भत्तस्मिं, पन्तं च सयनासनं।
अधिचित्ते च आयोगो, एतं बुद्धान सासनं ॥७॥

शब्दार्थ—अनूपवादो—निन्दा न करना। पातिमोक्खे—प्रातिमोक्ष में। २२७ नियमों को बौद्ध शासन में प्रातिमोक्ष कहा जाता है। संवरो—संयम। मत्तञ्ञुता—मात्रा (परिमाण) की जानकारी। भत्तस्मिं—भोजन में। पन्त—

१. पू०—निब्बाण।
२ स्या—अनुपवादो अनुपघातो। ए० के० नारायण भी इसी पाठ को मानते हैं।

प्रान्त, विविक्त, एकान्त में। सयानासनं—शयन और आसन। अधिचित्ते आयोगो—चित्त के सम्बन्ध में नियमन अर्थात् चित्तवृत्तियों का निरोध।

अनुवाद :—निन्दा न करना, दूसरो को हानि न पहुँचाना, प्रातिमोक्ष नियमो के अधीन संयम, भोजन में (सही) मात्रा की जानकारी, एकान्त में शय और आसन तथा चित्तवृत्तियों का निरोध करना—यह बुद्धो की शिक्षा है।

विशेष:—सन्यासी को परनिन्दा तथा प्रशंसा से दूर एवं एकान्त में शयन तथा आसन रखना चाहिये यह बात महाभारत मे भी बतायी गयी है—

न चाप्रदोषान्निन्देत, न गुणानभिपूजयेत्।
शय्यासने विविक्ते च, नित्यमेवाभिपूजयेत्।
(शा० पर्व, २७८। १२)

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—अनभिरत भिक्खु]

१८६. न कहापणवस्सेन, तित्ति कामेसु विज्जति।
अप्पस्सादा दुखा कामा, इति विञ्ञाय पण्डितो ॥८॥

१८७. अपि दिब्बेसु कामेसु, रतिं सो नाधिगच्छति।
तण्हक्खयरतो होति, सम्मासम्बुद्धसावको ॥९॥

शब्दार्थः—कहापणवस्सेन—कार्षापणो की वर्षा से। तित्ति—तृप्ति। विज्जति = विद्यते (सं०)। अप्पस्सादा—थोड़े स्वाद वाली। दिब्बेसु = दिव्य या स्वर्गीय। तण्हक्खयरतो = तृष्णा के क्षय मे रत। सम्मासम्बुद्धसावको—सम्यक् सम्बुद्ध (बुद्ध) का श्रावक (अनुयायी)। मैक्समूलर ने the disciple who is fully awakened अर्थ किया है जो भदन्त बुद्धघोष द्वारा किये गये "सम्मासम्बुद्धेन देसितस्स धम्मस्स सवनेन जातो योगाचारभिक्खु" व्याख्यान से सर्वथा विपरीत है।

अनुवाद :— कार्षापणो की वर्षा से भी भोगो मे तृप्ति नही होती। सभी 'भोग' थोड़े स्वाद वाले एवं दुःखद हैं—ऐसा समझकर विद्वज्जन स्वर्गीय भोगों मे भी आसक्ति को प्राप्त नही होता, वह सम्यक् सम्बुद्ध (तथागत) का अनुयायी तृष्णा के क्षय मे लगा रहता है।

विशेष :—'कामनायें कभी उपभोग से शान्त नही होती' भगवान् मनु का

चन है—' न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।" प्रकृतगाथा की तुलना महाभारत के इस श्लोक से कीजिये—

> यच्च काममुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम् ।
> तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम् ॥
>
> (शा०पर्व, १७७ । ५१)

विशेष :—"The two verses 186, 187 are ascribed to king Mandhatri, shortly before his death."

(मैक्समूलर संस्करण की पादटिप्पणी)

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—अग्गिदत्त ब्राह्मण]

> १८८. बहुं वे सरणं यन्ति, पब्बतानि वनानि च ।
> आरामरुक्खचेत्यानि, मनुस्सा भयतज्जिता ॥१०॥

शब्दार्थ :—आराम—उपवन । रुक्ख—वृक्ष । भयतज्जिता—भयभीत ।

अनुवाद :—भयभीत मनुष्य बहुत सी शरणों में—पर्वतों, वनों, उपवनों, वृक्षों और चैत्यों में जाते हैं ।

> १८९. नेतं खो सरणं खेमं, नेतं सरणमुत्तमं ।
> नेतं सरणमागम्म, सब्बदुक्खा पमुच्चति ॥११॥

शब्दार्थ :—नेतं = न + एतद् । खेमं = कल्याण (सं० क्षेम) । आगम्म = आकर । सब्बदुक्खा = सभी प्रकार के दुःख से । पमुच्चति = छूटता है ।

अनुवाद :—यह शरण निश्चय ही कल्याणकारी नहीं है । यह शरण उत्तम नहीं है । इस शरण में आकर (कोई भी) सभी प्रकार के दुःख से नहीं छूटता ।

> १९०. यो च बुद्धं च धम्मं च, संघं च सरणं गतो ।
> चत्तारि अरियसच्चानि, सम्मप्पञ्ञाय पस्सति ॥१२॥

> १९१. दुक्खं दुक्खसमुप्पादं, दुक्खस्स च अतिक्कमं ।
> अरियं चट्ठङ्गिकं मग्गं, दुक्खूपसमगामिनं ॥१३॥

शब्दार्थ :—चत्तारि अरियसच्चानि = चार आर्य सत्यों को । चार आर्य सत्य हैं—१. दुःख (संसार दुःखमय है) २. (दुक्खसमुप्पादो (दुःख का मूल

कारण तृष्णा है[1], ३. दुक्खनिरोधो (=दुःख की मूल कारण तृष्णा के निरोध से समस्त दुःखों का निरोध हो जाता है), अट्ठङ्गिकोमग्गो=यह चौथा आर्य सत्य है। इसके आठ मार्ग हैं—१. सम्मादिट्ठी, २. सम्मासङ्कप्पो, ३. सम्मावाचा ४. सम्माकम्मन्तो, ५. सम्माआजीवो, ६. सम्मावायामो, ७. सम्मासति और ८. सम्मासमाधि। अधिक विषयोपभोग और अधिक कृच्छ्रसाधन—इन दोनों चरम कोटियों का निषेध करने से इस मार्ग को मज्झिमा पटिपदा' भी कहा गया है। सम्मप्पञ्ञाय=सम्यक् बुद्धि से। दुक्खसमुप्पाद=दुःख की उत्पत्ति। अतिक्कम=अतिक्रम अर्थात् विनाश। चट्ठगिक=च+अट्ठंगिक। मग्ग= मार्ग। दुक्खूपसमगामिन=दुःख के विनाश की ओर जाने वाला।

अनुवाद:—और जो बुद्ध, धर्म और संघ की शरण में गया है (वह मनुष्य) दुःख, दुःख की उत्पत्ति, दुःख का विनाश और दुःख के विनाश (अर्थात् निर्वाण) की ओर ले जाने वाले श्रेष्ठ अष्टांगिक मार्ग—इन चार आर्य सत्यों को अपनी सम्यक् बुद्धि से देख लेता है।

विशेष:—बौद्ध धर्म में बुद्ध, धर्म और संघ को 'सरणत्तय' या 'रत्नत्रय' कहा जाता है। खुद्दकपाठपालि के प्रारम्भ में ही लिखा है—

> बुद्धं सरणं गच्छामि।
> धम्मं सरणं गच्छामि।
> संघं सरणं गच्छामि॥
> दुतियं पि बुद्धं सरणं गच्छामि।
> दुतियं पि धम्मं सरणं गच्छामि।
> दुतियं पि संघं सरणं गच्छामि॥
> ततियं पि बुद्धं सरणं गच्छामि।
> ततियं पि धम्मं सरणं गच्छामि।
> ततियं पि संघं सरणं गच्छामि॥
> एतं खो सरणं खेमं एतं सरणमुत्तमं।

---

१. महाभारत में भी तृष्णा को सबसे बड़ी व्याधि बताया गया है—

> या दुस्त्यजा दुर्मतिभिर्या न जीर्यति जीर्यतः।
> योऽसौ प्राणान्तिको रोगस्तां तृष्णां त्यजतः सुखम्॥
> (शान्तिपर्व, २७६। १२)

१९२. एतं खो सरणं खेमं, एतं सरणमुत्तमं।
एतं सरणमागम्य, सब्बदुक्खा पमुच्चति ॥१४॥

अनुवाद :—यह शरण निश्चय ही कल्याणकारी है। यह उत्तम शरण है। इस शरण में आकर (मनुष्य) सभी प्रकार के दुःख से छूट जाता है।

स्थान—जेतवन, व्यक्ति—आनन्द थेर]

१९३. दुल्लभो पुरिसाजञ्ञो, न सो सब्बत्थ जायति।
यत्थ सो जायति धीरो, तं कुलं सुखमेधति ॥१५॥

शब्दार्थ—पुरिसाजञ्ञो=पुनः जन्म न लेने वाला पुरुष (पुरुष+अजन्यः)। अधिकांश विद्वानों ने पुरुष+आजानेय' संस्कृत रूप माना है। संस्कृत 'आजानेय' का अर्थ है—उच्चकुलोद्भव या निर्भीक। अतः ऐसा अर्थ लेने पर गाथा के अन्तिम पद के साथ संगति न हो सकेगी। इसलिये हमारे विचार में "पुनः जन्म न लेने के योग्य अर्थात् पूर्णरूप से प्रबुद्ध मनुष्य दुर्लभ है" ऐसा अर्थ करना ही उचित होगा। मैक्समूलर ने भी 'A supernatural person (a Buddha) is not easily faund' ही अर्थ किया है।

अनुवाद :—पुनः जन्म न लेने के योग्य (अर्थात् पूर्ण प्रबुद्ध) पुरुष दुर्लभ है, वह सब जगह पैदा नहीं होता। जिस कुल में वह धैर्यशाली पैदा होता है उसमें सुख की वृद्धि होती है।

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—सबहुल भिक्खु]

१९४. सुखो बुद्धानमुप्पादो, सुखा सद्धम्मदेसना।
सुखा संघस्स सामग्गी, समग्गानं तपो सुखो ॥१६॥

शब्दार्थ :—सुखो=सुखदायी। सद्धम्मदेसना=सद्धर्म का उपदेश। सामग्गी=समग्रता अर्थात् एकता। समग्गानं=सभी का अर्थात् एकीभूत हुये व्यक्तियों का।

अनुवाद :—बुद्धों का जन्म सुख देने वाला है, सद्धर्म का उपदेश सुखदायी है। संघ की एकता सुखदायी है, एकीभूत हुए व्यक्तियों का तप सुखदायी है।

विशेष :—प्रस्तुत गाथा में 'एकता' पर बल दिया गया है। यह 'एकता' बौद्ध धर्म के 'संघ' के लिये आवश्यक थी। किन्तु ऋग्वेद में भी यही भावना

'साम्यवाद' के रूप मे जनसामान्य के कल्याण के लिये उदारचेता ऋषियो ने प्रवर्तित की थी, वही भगवान् बुद्ध के द्वारा भिक्खुवर्ग के लिये 'अनुशासन' के रूप मे प्रचलित हुई। इस अनुशासन की कठोरता का आगे चलकर विरोध हुआ। लेकिन ऋग्वेद की निम्नलिखित भावना सार्वयुगीन और सार्वदेशिक है जिसकी उपयोगिता, नैतिकता और आवश्यकता कभी कम नही हो सकती संस्कृति का प्राण समझी जाती है—

स गच्छध्व स वदध्व स वो मनासि जानताम् ।
देवा भाग यथा पूर्वे सजानाना उपासते ॥
समानो मन्त्र समिति समानी समान मन सह चित्तमेषाम् ।
समान मन्त्रमभिमन्त्रये व समानेन वो हविषा जुहोमि ॥
समानी व आकूति समाना हृदयानि व ।
समानमस्तु वो मनो यथा व सुसहासति ॥

(१ । १९१ । २, ३, ४)

[स्थान—कस्सपदसबलस्स[1] सुवण्णचेतिय, समय—चारिक[2] चारमानो]

१९५. पूजारहे पूजयतो, बुद्धे यदि व सावके ।
पपञ्चसमतिक्कन्ते, तिण्णसोकपरिद्दवे ॥१७॥

१९६. ते तादिसे पूजयतो, निब्बुते अकुतोभये ।
न सक्का पुञ्ञं संखातुं इमेत्तमपि केनपि ॥१८॥

' पठमभाणवार[3]]

---

१. कश्यपदशबलस्य । 'दशबल' बुद्ध का विशेषण होने के कारण उन्ही के लिये 'रूढ' हो गया है ।

२. बौद्ध सम्प्रदाय मे 'चारिका' का अर्थ है—चहलकदमी अर्थात् पद विहार

३ कोष्ठक वाला पाठ केवल नालन्दा सस्करण मे प्राप्त है ।

शब्दार्थ :—पूजारहे=पूजा के योग्य अर्थात् पूज्यों को। (पालि में अकारान्त पुल्लिंग शब्दों के रूप द्वितीया, बहुवचन तथा सप्तमी एकवचन में एक जैसे होते हैं, अत यहां सप्तमी का भ्रम न होना चाहिये)। पपञ्चसमतिक्कन्ते =सांसारिक प्रपञ्चों से दूर हुओं को। तिण्णसोकपरिद्दवे=शोकनद। (मैक्सम्यूलर—flood of sorrow) को पार करने वालों को। तादि से= तादृशान् (सं०)। निब्बुते=निर्वृत्तों अर्थात् मुक्तों को। अकुतोभये=निर्भीकों को। सखातुं=गिनना। इमेत्तमपि=(इम+एत्त+अपि) यह 'इतना है' (स० इयन्मात्रम् अपि)।

अनुवाद :—पूजा के योग्य व्यक्तियों, बुद्ध के अनुयायियों, सांसारिक प्रपञ्चों से दूर हुओं, शोकनद को पार करने वालों, उपर्युक्त प्रकार से मुक्तों और निर्भीकों को पूजने वाले व्यक्ति का 'यह पुण्य इतना है' इस प्रकार किसी के द्वारा गिना भी नहीं जा सकता।

---

१५. सुखवग्गो पुन्नरसमो

[स्थान—सक्कदेश, व्यक्ति—जातक (कलहवूपसमनत्थ)]

१६७. सुसुखं वत जीवाम, वेरिनेसु अवेरिनो।
वेरिनेसु मनुस्सेसु, विहराम अवेरिनो ।१।

शब्दार्थ—वत=वास्तव में। वेरिनेसु=वैरियों में। अवेरिनो=अशत्रुता अर्थात् मित्रता का व्यवहार करने वाले (हम)।

अनुवाद—शत्रुओं में अशत्रुता का व्यवहार करने वाले (हम) वास्तव में सुखपूर्वक जीते हैं। शत्रु-मनुष्यों में (हम) अशत्रु (मित्र) हो विहार करते हैं।

विशेष—शत्रुओं के मध्य शत्रु बनकर रहना अतीव कठिन है। इसीलिये यमकवग्ग में पहले ही कहा जा चुका है—

१६८. न हि वेरेन वेरानि सम्मन्तीध कुदाचनं।
अवेरेन च सम्मन्ति एस धम्मो सनन्तनो ।४।
सुसुखं वत जीवाम, आतुरेसु अनातुरा।
आतुरेसु मनुस्सेसु, विहराम अनातुरा ।२।

अनुवाद—(मान, ईर्ष्या आदि से) आतुर (व्याकुल) व्यक्तियों में अनातुर (उतावले या बदले की भावना से रहित) होकर (हम) वास्तव में सुखपूर्वक जीते है। आतुर मनुष्यों में (हम) अनातुर (धीर) हो विहार करते हैं।

विशेष—मान, ईर्ष्या बदले की भावना आदि से ग्रस्त अतएव व्याकुल व्यक्तियों के शत्रु हमेशा बढ़ते हैं, उन्हें शान्ति कहा—

अक्कोच्छि म अवधि म अजिनि म अहासि मे।
ये च त उपनय्हन्ति वेर तेस न सम्मति ॥ धम्मपद, ३

महाभारत शान्ति पर्व में भी कहा गया है—

उभे सत्यानृते त्यक्त्वा शोकानन्दौ प्रियाप्रियौ।
भयाभय च सन्त्यज्य सम्प्रशान्तो निरामयः ॥२७६।११

१९९. सुसुखं वत जीवाम, उस्सुकेसु अनुस्सुका ।३।
उस्सुकेसु मनुस्सेसु, विहराम अनुस्सुका ।३।

शब्दार्थ—उस्सुक=लालायित अर्थात् लालची (मैक्समूलर-Greedy)।

अनुवाद—लालची (व्यक्तियों में (हम लालचरहित हो वास्तव में सुख-पूर्वक जीते हैं। लालची मनुष्यों में (हम) लालचरहित होकर विहार करते हैं।

[स्थान—पञ्चसाला ब्राह्मणगाम—मगध), व्यक्ति—मार]

२००. सुसुखं वत जीवाम, येसं नो नत्थि किञ्चनं।
पीतिभक्खा भविस्साम, देवा आभस्सरा यथा ।४।

शब्दार्थ—पीतिभक्खा=आनन्द है भोजन जिनका। आभस्सरा=आभास्वर। आप्टे ने संस्कृत कोष में 'आभास्वर' का पर्याय Demigod (गन्धर्व) दिया है किन्तु मैक्समूलर ने शाब्दिक अर्थ Bright gods ही दिया है। विभङ्गट्ठकथा में 'आभस्सर देव' के सम्बन्ध में बताया गया है कि उनके शरीर से ज्योति चारों ओर छिटकती है—"दण्ड-दीपिकाय अच्चि विय एतेस सरीरतो आभा छिज्जित्वा छिज्जित्वा पतन्ती विय सरति विसरतीति आभस्सरा।" ये देव केवल 'पीति' (आनन्द) ही भक्षण कर प्राण धारण करते हैं।

अनुवाद—(हम लोग) जिनका कुछ नहीं है, वास्तव में सुखपूर्वक जीते (हम) आभास्वर देवों के समान आनन्दभोजी बनेंगे।

विशेष—महाभारत के शान्तिपर्व में विदेह जनक के निम्न शब्दों से तुलना कीजिए, मिथिला में आग लगी है, पर जनक निश्चिन्त है—

सुसुखं बत जीवामि यस्य मे नास्ति किञ्चन ।
मिथिलायां प्रदीप्तायां न मे दह्यति किञ्चन ।२१९।४

[स्थान—जेतवन, विषयवस्तु—कोसलरञ्ञो पराजयो[१]]

२०१. जयं वेरं पसवति, दुक्खं सेति पराजितो ।
उपसन्तो सुखं सेति, हित्वा जयपराजयं ॥५॥

शब्दार्थ :—पसवति = उत्पन्न करती है । सेति = सोता है । उपसन्तो = पूर्णतया शान्त । हित्वा = त्याग कर ।

अनुवाद :—विजय शत्रुता को उत्पन्न करती है । पराजित हुआ (मनुष्य) दुख (की नींद) सोता है । जय-पराजय को त्याग कर पूर्णतया शान्त (मनुष्य) सुख (की नींद) सोता है ।

विशेष—संयुत्त निकाय के प्रथम भाग में भी यह गाथा उद्धृत हुई है । अवदान शतक में इस गाथा का संस्कृत रूपान्तर उपलब्ध है—

जयो वैरं प्रसवति दुःखं शेते पराजितः ।
उपशान्तः सुखं शेते हित्वा जयपराजयम् ॥

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—अञ्ञतरा कुलकञ्ञा[२]]

२०२. नत्थि रागसमो अग्गि, नत्थि दोससमो कलि ।
नत्थि खन्धसमा[३] दुक्खा, नत्थि सन्तिपरं सुखं ॥६॥

शब्दार्थ—दोससमो = द्वेष के समान । कलि = कलह या पाप । मैक्सम्यूलर ने 'कलि' का अर्थ द्यूतकर्म का भाग्यहीन पासा (Unlucky die) बुद्धघोष ने 'अपराध' और एस० के नारायण ने 'मल' किया है । खन्धसमा = स्कन्ध अर्थात् संसार के समान । सन्तिपरं = शान्ति से बढ़कर ।

अनुवाद :—राग के समान अग्नि नहीं है द्वेष के समान पाप नहीं है । संसार (या पुनर्जन्म) के समान दुःख नहीं है, शान्ति से बढ़कर सुख नहीं है ।

---

१. "This verse is ascribed to Buddha, when he heard of the defeat of अजातशत्रु by प्रसेनजित्"—मैक्सम्यूलर ।

२. सी०—कुलदारिका । ३. सि०—खन्धादिसा ।

[स्थान— ग्रालवी, व्यक्ति—एक उपासक]

२०३ जिघच्छा[1] परमा रोगा, सङ्खारा परमा दुखा।
एतं ञत्वा यथाभूतं, निब्बान परमं सुखं ॥७॥

शब्दार्थ :—जिघच्छा = इच्छा। यद्यपि इसका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है—खाने की इच्छा, पर 'कामोपभोग की इच्छा' जैसे विस्तृत अर्थ को प्रकट करने के लिये हमने इसका अर्थ 'इच्छा' ही लिया है। मैक्सम्यूलर ने ठीक ही लिखा है—"जिघच्छा or as it is written in one MS., जिघच्छा (स जिधत्सा), means not only 'hunger', but 'appetite desire.' 'सग्रह की प्रवृत्ति' जैसा अर्थ मूल से पर्याप्त भिन्न हो जाता है सखारा = पुनजन्म (सस्कार)। यह पाच खन्धो मे से चौथा स्कन्ध है, लेकि बुद्धघोष ने इसका अर्थ पञ्चस्कन्ध (सखारा ति पञ्च खन्धा) किया है। चाइल्ड के अनुसार organic life और मैक्सम्यूलर के अनुसार इसका अर्थ Body.

अनुवाद—इच्छा सबसे बडा रोग है, पुनर्जन्म सबसे बडा दुख है। इ यथाथ रूप मे जानकर निर्वाण परम सुख है (ऐसा जानो)।

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—पसेनदि कोसलराज]

२०४. आरोग्य परमा लाभा, सन्तुट्ठि परमं धनं।
विस्सास परमा ञाति, निब्बानं परमं सुख ॥८॥

अनुवाद :—आरोग्य परम लाभ है सन्तुष्टि परम धन है। विश्वास परम बन्धु है, निर्वाण परम सुख है।

विशेष :—गाथा के तृतीय पाद का अनुवाद मैक्सम्यूलर ने trust is the best of relationships और चाइल्डर्स ने the best kinsman is a man you can trust किया है।

---

१ जिघच्छापरमा। मैक्सम्यूलर भी लिखते हैं—I should prefer to read. जिघच्छा परमा as compound.

[स्थान—वेसाली, व्यक्ति—तिस्स थेर[1]]

२०५. पविवेकरसं पित्वा[2], रसं उपसमस्स च।
निद्दरो होति निप्पापो, धम्मपीतिरसं पिवं ॥९॥

शब्दार्थ :—निद्दरो=निडर। धम्मपीतिरस=धर्म के आनन्द रूपी रस को। पिवं=पीता हुआ।

अनुवाद :—प्रकृष्ट विवेक के रस को तथा शान्ति के रस को पीकर धर्म के आनन्दरूपी रस को पीता हुआ (मनुष्य) निडर और निष्पाप हो जाता है।

विशेष :—यही गाथा सुत्तनिपात के तीसरे सुत्त हिरिसुत्त की अन्तिम गाथा के रूप में उपलब्ध होती है।

[स्थान—वेणुगाम, व्यक्ति सक्क]

२०६. साधु[3] दस्सनमरियानं, सन्निवासो सदा सुखो।
अदस्सनेन बालानं, निच्चमेव सुखी सिया ॥१०॥

अनुवाद—आर्यों का दर्शन शुभ है, सन्तों के साथ निवास हमेशा सुखदायक है। मूर्खों के न देखने से हमेशा सुखी रहे।

विशेष—सन्तों की सङ्गति सुखदायिनी होती है—

जाड्यं धियो हरति सिञ्चति वाचि सत्यम्,
मानोन्नतिं दिशति पापमपाकरोति।
सन्तोषमावहति दिक्षु तनोति कीर्तिम्,
सत्सङ्गतिः कथय किन्न करोति पुंसाम् ॥

मूर्ख एवं दुष्ट से दूर रहने की सलाह विष्णुशर्मा ने भी दी थी—

वरं गहनदुर्गेषु भ्रान्तं वनचरैः सह।
न दुष्टजनसम्पर्कः सुरेन्द्रभवनेष्वपि ॥

देखिये—गाथा ७८।

---

१ चौखम्बा संस्करण में पाठ 'अञ्ञतर भिक्खु' है।

२ सिं०—पीत्वा।

३ अ०—साहु।

२०७ बालसङ्गतचारी हि, दीघमद्धान सोचति ।
दुक्खो बालेहि संवासो, अमित्तेनेव सब्बदा ।
धीरो च सुखसंवासो[1], ञातीन व समागमो ॥११॥

शब्दार्थ—दीघमद्धान = मार्ग मे बहुत दूर तक । बालेहि = मूर्खों के साथ। सब्बदा = सदैव ।

अनुवाद—मूर्ख की सङ्गति मे चलने वाला मार्ग मे बहुत दूर तक निश्चय ही पश्चाताप करता है । मूर्खों के साथ निवास सदैव दुखदायी होता है जैसे कि शत्रु के साथ निवास (दुखदायी होता है) धैर्यशाली के साथ रहना, जाति वालो के समागम के समान सुखद होता है ।

विशेष—तुलनीय, गाथा ६१, ६६ ।

तस्माहि—

२०८ धीरं च पञ्ञं च बहुस्सुतं च, धोरय्हसीलं वतवन्तमारियं[2] ।
त तादिसं सप्पुरिसं सुमेधं, भजेथ नक्खत्तपथं' व चन्दिमा ॥१२॥

शब्दार्थ—पञ्ञं = प्राज्ञ । धोरय्हसील = शीलवान् (स० धौरेयशीलम्) । वतवन्त = व्रतवान् । नक्खत्तपथ = नक्षत्रपथ । इन सभी शब्दो मे द्वितीया का प्रयोग भज धातु के प्रयोग के कारण हुआ है ।

अनुवाद—इसलिये—

(मनुष्य) धीर प्राज्ञ, विद्वान् शीलवान्, व्रतवान्, श्रेष्ठ और मेधावी सत्पुरुष का अनुगमन उसी प्रकार करे जैसे कि चन्द्रमा नक्षत्रमार्ग का ।

१. I should like to read 'सुखो च धीर संवासो'—मैक्समूलर ।
२. अ०—वतवन्तमरियं ।

१६. पियवग्गो सोलसमो

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—तयो पब्बजिता]

२०९. अयोगे युञ्जमत्तानं, योगस्मिं च अयोजयं ।
अत्थं हित्वा पियग्गाही, पिहेतत्तानुयोगिनं ॥१॥

शब्दार्थ :—अयोगे = न करने योग्य कार्य में । बुद्धघोष ने लिखा है—'तत्थ अयोगे ति अयुञ्जितब्बे अयोनिसोमनसिकारे वेसियागोचरादिभेदस्स हि छब्बिधस्स अगोचरस्स सेवन इध अयोनिसोमनसिकारो नाम ।" योगस्मि = करणीय कार्य में । पियग्गाही = प्रिय (विषयों) का ग्राही । पिहेत = स्पृहा करे (सं० स्पृहयेत्) । अत्तानुयोगिन = आत्मानुयोगी अर्थात् आत्मोन्नति में संलग्न (who has exerted himself in meditation —मैक्समूलर) ।

अनुवाद :—न करने योग्य कार्य में अपने को लगाता हुआ और करने योग्य कार्य में न लगता हुआ, अर्थ (परमार्थ) को छोड़कर प्रिय विषयों (पञ्च कामगुणों) को ग्रहण करने वाला (मनुष्य) आत्मोन्नति में संलग्न (व्यक्ति) की स्पृहा करे ।

विशेष :—'योग' का अर्थ 'विविध यौगिक आसनों' में नहीं है । गीता में भगवान् कृष्ण ने कहा है—'योग कर्मसु कौशलम् ।' 'कर्म की कुशलता' ही योग है, अतएव अर्जुन को भगवान् का उपदेश है—"योगस्थ कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय ।"

'पञ्चकामगुणों में अनासक्ति' ही 'कर्मकुशलता' है जिसका दूसरा नाम 'योग' समझा जाता है । विविध यौगिक आसनों से साधक का भला नहीं हो सकता—देखिये, धम्मपद गाथा ४८, १४१ ।

२१०. मा पियेहि समागञ्छि अप्पियेहि कुदाचनं ।
पियानं अदस्सनं दुक्खं अप्पियानं च दस्सनं ॥२॥

शब्दार्थ :— पियेहि = पञ्चकामगुणों के साथ । समागञ्छि = सम + आगच्छ ।

अनुवाद :—प्रियों (पञ्च काम गुणों) के साथ न आओ, अप्रिय के साथ कभी मत आओ । प्रियों का अदर्शन और अप्रियों का दर्शन दुःखद होता है ।

विशेष—तुलना कीजिये—

पञ्चकामगुणे हित्वा पियरूपे मनोरमे।
सद्धाय घरा निक्खम्म दुक्खस्सन्तकरो भव॥
(सुत्तनिपात, २। ११। ११७)

२११. तस्मा पियं न कयिराथ, पियापायो हि पापको।
गन्था तेसं न विज्जन्ति, येसं नत्थि पियाप्पियं॥३॥

शब्दार्थ—पियापायो = प्रिय का वियोग (सं० प्रियापायो)। गन्था = बन्धन। पियाप्पिय = प्रिय तथा अप्रिय।

अनुवाद—इसलिये प्रिय नहीं बनाना चाहिये। प्रिय का वियोग कष्टकारी होता है। जिनके प्रिय तथा अप्रिय नहीं होते उनके बन्धन नहीं हैं।

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—अञ्ञतर कुटुम्बिक]

२१२. पियतो जायती सोको, पियतो जायती भयं।
पियतो विप्पमुत्तस्स, नत्थि सोको कुतो भयं॥४॥

अनुवाद—प्रिय से शोक उत्पन्न होता है। प्रिय से भय उत्पन्न होता है। प्रिय से मुक्त व्यक्ति को शोक नहीं है, भय कहां (से हो)?

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—विसाखा उपासिका]

२१३. पेमतो जायती सोको, पेमतो जायती भयं।
पेमतो विप्पमुत्तस्स, नत्थि सोको कुतो भयं॥५॥

अनुवाद—प्रेम से शोक उत्पन्न होता है, प्रेम से भय उत्पन्न होता है। प्रेम से मुक्त व्यक्ति को शोक नहीं है, भय कहां (से हो)?

विशेष—तुलनीय—

प्रीति करि काहू सुख न लह्यो।
प्रीति करी पतंग दीप सम अपनो ही प्राण दह्यो॥ सूरदास

[स्थान—कूटागारसाला (वेसाली), व्यक्ति—लिच्छवि]

२१४. रतिया जायती सोको, रतिया जायती भयं।
[illegible] भयं॥६॥

अनुवाद :—रति (राग) से शोक उत्पन्न होता है, रति से भय उत्पन्न होता है। रति मुक्त व्यक्ति को शोक नहीं है, भय कहां (से हो) ?

विशेष :—तुलनीय—

नत्थि रागसमो अग्गि ‥ ‥ । धम्मपद, २०२।

— नास्ति रागसमं दुःखम् ‥ । महाभारत, शा० प० १७५।३१

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—अनित्थिगन्धकुमार]

२१५. कामतो जायती सोको, कामतो जायती भयं।
कामतो विप्पमुत्तस्स, नत्थि सोको कुतो भयं ॥७॥

अनुवाद :—काम (इच्छा) से शोक उत्पन्न होता है, काम से भय उत्पन्न होता है। काम से मुक्त व्यक्ति को शोक नहीं है, भय कहां (से हो) ?

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—अन्यतर ब्राह्मण]

२१६. तण्हाय जायती सोको, तण्हाय जायती भयं।
तण्हाय विप्पमुत्तस्स, नत्थि सोको कुतो भयं ॥८॥

अनुवाद—तृष्णा से शोक उत्पन्न होता है, तृष्णा से भय उत्पन्न होता है। तृष्णा से मुक्त व्यक्ति के लिये शोक नहीं है, भय कहां (से हो) ?

विशेष :—तृष्णा सबसे बड़ा रोग है, उसे त्याग देने पर ही सुख सम्भव है—

या दुस्त्यजा दुर्मतिभिर्या न जीर्यति जीर्यतः ।
योऽसौ प्राणान्तिको रोगस्तां तृष्णां त्यजतः सुखम् ॥
(महाभारत, शा० प० २७६ । १२)

[स्थान—राजगृह (वेणुवन), व्यक्ति—पचसत दारक]

२१७. सीलदस्सनसम्पन्नं, धम्मट्ठं सच्चवादिनं[1]।
अत्तनो कम्म कुब्बानं, तं जनो कुरुते पियं ॥६॥

शब्दार्थ—सीलदस्सनसम्पन्न = शील और दर्शन से सम्पन्न। दर्शन का आशय है किसी वस्तु को उसके वास्तविक रूप में सही-सही देखना अर्थात्

१. मा० सच्चवेदिनं।

सम्यक् दर्शन। बुद्धघोष लिखते है—"मग्गफलसम्पयुत्तेन गम्भादस्सनेन सम्पन्न।" धम्मट्ट—धर्मिष्ठ (स०)।

अनुवाद—जो शील और सम्यक् दर्शन से युक्त, धर्मिष्ठ, सत्यवा (और) अपना कार्य करने वाला है, उसे लोग प्रिय बनाते हैं।

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—अनागामि थेर[1]]

२१८. छन्दजातो अनक्खाते, मनसा च फुटो सिया।
कामेसु[2] च अप्पटिबद्धचित्तो, उद्धंसोतोऽति वुच्चति ॥१०

शब्दार्थ—छन्दजातो = छन्दत्) इच्छा उत्पन्न हो गई है जिसकी अर्था अभिलाषी। अनक्खाते = अकथ्य अर्थात् निर्वाण मे। फुटो = स्पष्ट अर्थात् निम (स० स्फुट) अप्पटिबद्धचित्तो—अप्रतिबद्ध चित्त वाला। उद्धंसोतो = उध्व स्रोतो। इसका मूल अर्थ है—स्रोत के प्रतिकूल तैरने वाला। अविह' लोक म जन्म लेकर 'अकनिट्ठ' देवलोक की ओर अग्रसर होने वाले बौद्ध भिक्षु का बौद्ध दर्शन म "उद्ध सात' कहा जाता है—"एव रूपो भिक्खु अविहेसु निब्बत्तित्वा ततो पट्ठाय पटिसन्धिवसेन अकनिट्ठ गच्छन्तो उद्धंसोतो'ति वुच्चति।"

—बुद्धघोष

अनुवाद :—अकथ्य (निर्वाण) मे उत्पन्न इच्छा वाला और मन स निम और कामों मे जिसका चित्त बधा नही है वह ऊध्वस्रोत कहा जाता है।

[स्थान—इसिपतन, व्यक्ति—नन्दियुत्त]

२१९. चिरप्पवासिं पुरिसं, दूरतो सोत्थिमागतं।
ञातिमित्ता सुहज्जा च, अभिनन्दन्ति आगतं ॥११॥

शब्दार्थः—सोत्थि = स्वस्थ। ञातिमित्ता = बन्धु और मित्र। सुहज्जा = सुहृद।

अनुवाद—बहुत समय तक बाहर रहने वाले, दूर से आये हुये स्वस्थ पुरु का बन्धु मित्र और सहृदय लोग अभिनन्द करते हैं।

१. ए०के० नारायण सम्पादित सस्करण मे स्थान-पात्र का निर्देश नही है
२. स्या०—कामे।

२२०. तथेव कतपुञ्ञं पि, अस्मा लोका परं गतं।
पुञ्ञानि पटिगण्हन्ति, पियं ञाती व आगतं ॥१२॥

अनुवाद.—उसी प्रकार इस लोक से परलोक को गये हुये कृत पुण्य पुरुष को भी आये हुये ज्ञाति-भाई के समान पुण्य कर्म स्वागत करते हैं।

---

१७. कोधवग्गो सत्तरसमो

[स्थान—निग्रोधाराम, व्यक्ति—रोहिणी खत्तियकञ्ञा]

२२१. कोधं जहे विप्पजहेय्य मानं, संयोजनं सब्बमतिक्कमेय्य।
तं नामरूपस्मिं असज्जमानं, अकिञ्चनं नानुपतन्ति दुक्खा ॥१॥

शब्दार्थ—जहे = त्याग देना चाहिये। समोजन सब्ब = सभी बन्धनों को। अतिक्कमेय्य = अतिक्रमण करना चाहिये (सं० अतिक्रमध्वम्)। नामरूपस्मि = नाम और रूप में। असज्जमान = अनासक्त।

अनुवाद:—क्रोध को त्याग देना चाहिये। मान को त्याग देना चाहिये। सभी बन्धनों का अतिक्रमण करना चाहिये। नाम और रूप में अनासक्त उस अकिञ्चन पर दुःख नहीं आते।

विशेष—नाम और रूप—ये दो प्रत्यय संसार के अन्यतम कारण हैं। विज्ञान प्रत्यय से इनकी उत्पत्ति होती है और ये स्वयं छः आयतनों के कारण हैं। विशेष विवरण उदानपालि के 'पठमबोधिसुत्त' में इस प्रकार दिया गया है—

"इति इमस्मिं सति इदं होति, इमस्सुप्पादा इदं उप्पज्जति, यदिदं—अविज्जापच्चया सङ्खारा, सङ्खारपच्चया विञ्ञाणं, विञ्ञाणपच्चया नामरूपं, नामरूपपच्चया सळायतनं सळायतनपच्चया फस्सो, फस्सपच्चया वेदना, वेदनापच्चया तण्हा, तण्हापच्चया उपादानं, उपादानपच्चया भवो, भवपच्चया जाति, जातिपच्चया जरामरणं, सोकपरिदेवदुक्खदोमनस्सुपायासा सम्भवन्ति। एवमेतस्स केवलस्स दुक्खक्खन्धस्स समुदयो होती ति।"

[स्थान—अग्गालव चेतिय, व्यक्ति—अन्यतर भिक्खु]

२२२. यो वे उप्पतितं कोधं, रथं भन्तं, व धारये[1]।
तमहं सारथिं ब्रूमि, रस्मिग्गाहो इतरो जनो ॥२॥

शब्दार्थ—उप्पतित = चढ़ते। भन्तं = भटके हुये (सं० भ्रान्तम्) धारये = रोक लेता है (निग्गण्हितुं सक्कोति—बुद्धघोष)। रस्मिग्गाहो = लगाम पकड़ने वाला।

अनुवाद—जो (मनुष्य) चढ़ते क्रोध को भटके हुये रथ के समान रोक लेता है, उस व्यक्ति को (मैं) 'सारथि' कहता हूं, अन्य तो (केवल) लगाम पकड़ने वाले है।

[स्थान—राजगृह (वेणुवन), व्यक्ति—उत्तरा उपासिका]

२२३. अक्कोधेन जिने कोधं, असाधुं साधुना जिने।
जिने कदरियं दानेन, सच्चेनालीकवादिनं ।३।

अनुवाद—अक्रोध (क्षान्ति) से क्रोध को जीते, साधु (भलाई) से असाधु (दुर्जन) को जीते। दान से कृपण को (और) सत्य से झूठ बोलने वाले को जीते।

विशेष—यह गाथा राजोवादजातक में भी उद्धृत हुई है। महाभारत के उद्योग पर्व के विदुर नीति प्रकरण में इसी भाव का निम्नलिखित श्लोक प्राप्त होता है—

अक्रोधेन जयेत् क्रोध, असाधु साधुना जयेत्।
जयेत्कदर्यं दानेन जयेत् सत्येन चानृतम् ।३६।७२

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति,—महामोग्गल्लान थेर]

२२४. सच्चं भणे न कुज्झेय्य दज्जा अप्पं, पि[2] याचितो।
एतेहि तीहि ठानेहि, गच्छे देवान सन्तिके ।४।

---

१. प्र०—वारये।

२. सि०—दज्जाप्पस्मिम्पि।

शब्दार्थ—न कुज्झेय्य = क्रोध न करे (स० कुध्येत्)। दज्जा = देवे (स० दद्यात्)। अप्प' पि = थोड़ा भी। तीहि = तीन (स० त्रिभि)। ठानेहि = स्थानों से।

अनुवाद—सत्य बोले, क्रोध न करे, माँगे जाने पर थोड़ा भी देवे, इन तीन स्थानों (बातों) से देवों के पास जाय।

[स्थान—अञ्जनवन, समय—भिक्खूहि पुट्ठपञ्ह आरब्भ[१]]

२२५. अहिंसका ये मुनयो, निच्चं कायेन संवुता।

ते यन्ति अच्चुतं ठानं, यत्थ गन्त्वा न सोचरे ॥५॥

शब्दार्थ—अच्चुत = च्युत न होने वाले। ठान = स्थान को। न सोचरे = शोक नहीं करते।

अनुवाद—जो अहिंसक तथा सदैव शरीर से संयत रहने वाले मुनि हैं वे च्युत न होने वाले स्थान को जाते हैं जहाँ जाकर वे शोक नहीं करते।

[स्थान—गिज्झकूट, व्यक्ति—राजगहसेट्ठिनो दासी पुण्णा[२]]

२२६. सदा जागरमानानं अहोरत्तानुसिक्खिनं।

निब्बानं अधिमुत्तानं, अत्थं गच्छन्ति आसवा ॥६॥

शब्दार्थ—जागरमानानं = जाग्रत रहने वालों के (स० जाग्रताम्)। अहोरत्तानुसिक्खिनं = दिन-रात शिक्षित होने वालों के। निब्बानं अधिमुत्तानं = निर्वाण के प्रति प्रयत्नशील लोगों के। अत्थं = अस्त (नष्ट)।

अनुवाद :—हमेशा जाग्रत रहने वाले, दिन रात शिक्षित होने वाले (और) निर्वाण के प्रति प्रयत्नशील लोगों के आस्रव (चित्त मल) अस्त (नष्ट) हो जाते हैं।

---

२. ए० क० नारायण ने अपने संस्करण में स्थान—साकेत और व्यक्ति 'कोई ब्राह्मण' ऐसा लिखा है।

१ ए० क० नारायण के अनुसार 'गिज्झकूट (राजगृह) तथा पात्र—राजगृह श्रेष्ठी का पुत्र' है।

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—अतुल उपासक]

२२७. पोराणमेतं अतुल[1], नेतं अज्जतनामिव ।
निन्दन्ति तुण्हिमासीनं, निन्दन्ति बहुभाणिनं ।
मितभाणिं पि निन्दन्ति, नत्थि लोके अनिन्दितो ॥७॥

शब्दार्थ —पोराण=प्राचीन या सनातन। अज्जतन=आज की। तुण्हीं=चुप (स० तूष्णीम्) मितभाणिं पि=मितभाषी को भी।

अनुवाद —हे अतुल ! यह आज की ही नहीं, यह पुरानी बात है, (लोग) चुप बैठने वाले की निन्दा करते हैं, बहुत बोलने वाले की निन्दा करते हैं (और) मितभाषी की भी निन्दा करते हैं। संसार में अनिन्दित कोई नहीं है।

२२८. न चाहु न च भविस्सति, न चेतरहि विज्जति ।
एकन्तं निन्दितो पोसो, एकन्तं वा पसंसितो ॥८॥

शब्दार्थ —अहु=हुआ (स० अभूत्)। चेतरहि=च+एतर्हि (यहाँ)।

अनुवाद —बिल्कुल निन्दित अथवा बिल्कुल प्रशंसित पुरुष न तो (कभी) हुआ है, न (कभी) होगा और न यहाँ विद्यमान (ही) है।

२२९. यं चे विञ्ञू पसंसन्ति, अनुविच्च सुवे सुवे ।
अच्छिद्दवुत्तिं मेधाविं, पञ्ञासीलसमाहितं ॥९॥

२३०. निक्खं जम्बोनदस्सेव, को तं निन्दितुमरहति ।
देवा' पि तं पसंसन्ति, ब्रह्मुना' पि पसंसितो ॥१०॥

शब्दार्थ —विञ्ञू=विज्ञ लोग (स० विज्ञाः)। अनुविच्च=चुन चुनकर (स० अनुविच्य)। सुवे-सुवे=प्रतिदिन (श्व श्व)। अच्छिद्दवुत्तिं=प्रछिद्र

---

[1] "The commentator must have read atula instead of atulam, and he explains it as the name of a pupil whom Gautam addressed by that name. This may be so, but atula may also be taken in the sense of incomparable, and in that case we ought to supply, with Prof. Weber, some such word as 'saw' or saying."—मैक्समूलर।

अर्थात् निर्दोष आचरण वाले को। नेक्खं=निष्क[1] (प्राचीन काल का एक सिक्का)। जम्बोनदस्स=सुवर्ण का।

अनुवाद —जिस निर्दोष आचरण वाले, मेधावी, प्रज्ञा और शील से समन्वित व्यक्ति की विज्ञ लोग प्रतिदिन चुन-चुनकर प्रशंसा करते हैं, सुवर्ण के निष्क के समान (निष्कलंक) उस व्यक्ति की कौन निन्दा कर सकता है? उसकी देवता भी प्रशंसा करते हैं, (वह) ब्रह्मा के द्वारा भी प्रशंसित होता है।

[स्थान—वेलुवन, व्यक्ति—छब्बग्गिय[2] भिक्खु]

२३१. कायप्पकोपं रक्खेय्य, कायेन सवुतो सिया।
कायदुच्चरितं हित्वा, कायेन सुचरितं चरे॥११॥

अनुवाद —शरीर के क्रोध की रक्षा करे, शरीर से संयत रहे। शारीरिक दुश्चरित्र का त्याग कर शरीर से सदाचार का आचरण करे।

२३२. वचीपकोपं रक्खेय्य, वाचाय सवुतो सिया।
वचीदुच्चरितं हित्वा, वाचाय सुचरितं चरे॥१२॥

अनुवाद —वाचिक क्रोध (वच प्रकोप) की रक्षा करे, वाणी से संयत रहे। वाचसिक दुश्चरित्र का त्याग कर वाणी से सदाचार का आचरण करे।

२३३. मनोपकोपं रक्खेय्य, मनसा संवुतो सिया।
मनोदुच्चरितं हित्वा, मनसा सुचरितं चरे॥१३॥

अनुवाद —मन के क्रोध की रक्षा करे, मन से संयत रहे। मन के दुश्चरित्र का त्याग कर मन से सदाचार का आचरण करे।

२३४. कायेन संवुता धीरा, अथो वाचाय संवुता।
मनसा संवुता धीरा, ते वे सुपरिसंवुता॥१४॥

अनुवाद —धीर (पुरुष) शरीर से संयत, वाणी से संयत (और) मन से

---

१ शुद्ध सुवर्ण की मुद्रा 'निष्क' (कलंक या मल रहित) कहा जाता थी जिसकी तोल के सम्बन्ध में मतभेद है। विस्तृत विवरण भूमिका में देखें।

२. ए० के० नारायण संस्करण में 'वज्जिय भिक्खु' ऐसा पाठ है।

शब्दार्थ :—दीपमत्तनो = अपना द्वीप (रक्षा स्थान)। वायम = उद्योग करो (सं० व्यायच्छस्व)। निद्धन्तमलो = निर्धूतमल अर्थात् अपगतमल वाला। एहैसि = जाओगे (सं० एष्यसि)।

अनुवाद—इसलिये (तुम) अपना द्वीप (रक्षा स्थान) बना लो (अर्थात् संसार रूपी सागर में अपने बचाव के लिये एक द्वीप बना लो), शीघ्र ही उद्योग करो, पण्डित, अपगतमल वाले (और) निष्कलङ्क बनो। फिर जन्म और जरा को प्राप्त न होगा। (ऐसा बनने पर तुम) दिव्य आर्यभूमि (आर्यपद) को जाओगे

२३७. उपनीतवयो च दानिसि, सम्पयातोसि यमस्स सन्तिके।
वासो ते नत्थि अन्तरा, पाथेय्यं पि च ते न विज्जति ॥३॥

शब्दार्थः—सम्पयातोसि = पहुँच गये हो (सम्प्रयातोऽसि)। अन्तरा = मध्य में।

अनुवाद :—इस समय तुम नष्ट आयु वाले हो (अर्थात् तुम्हारी आयु समाप्त हो चुकी है) और यमराज के समीप पहुँच गये हो। मध्य में (मार्ग में) तुम्हारा घर (वास-स्थान) नहीं है और तुम्हारे पास पाथेय भी नहीं है।

२३८. सो करोहि दीपमत्तनो, खिप्पं वायम पण्डितो भव।
निद्धन्तमलो अनङ्गणो, न पुन जातिजरं उपेहेसि ॥४॥

शब्दार्थः—जातिजरं = जन्म और जरा को। उपेहेसि = प्राप्त होगे।

अनुवाद :—इसलिये (तुम) अपना द्वीप (रक्षा स्थान) बना लो, शीघ्र उद्योग करो, पण्डित अपगतमल वाले (और) निष्कलङ्क बनो, फिर जन्म और जरा को प्राप्त न होगे।

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—अन्यतर ब्राह्मण]

२३९. अनुपुब्बेन मेधावी; थोकथोकं[1] खणे खणे।
कम्मारो रजतस्सेव; निद्धमे मलमत्तनो ॥ ५ ॥

शब्दार्थ—अनुपुब्बेन = क्रमश। खणे खणे = प्रति-क्षण। कम्मारो = सुनार। निद्धमे = दूर करे (सं० निर्धमेत्)।

अनुवाद—जिस प्रकार सुनार चाँदी के मैल को क्रमश थोड़ा थोड़ा करके प्रतिक्षण नष्ट करता है, उसी प्रकार बुद्धिमान् व्यक्ति अपने मन को प्रतिक्षण थोड़ा थोड़ा क्रमश. नष्ट करे।

---

१. थ०—थोक थोक।

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—तिस्स थेर]

२४०. अयसा व मलं समुट्ठितं, तदुट्ठाय[1] तमेव खादति।
एवं अतिधोनचारिनं, सानि कम्मानि[2] नयन्ति दुग्गतिं ॥६॥

शब्दार्थ—समुट्ठित=निकला हुआ। तदुट्ठाय=उससे निकलकर। अतिधोनचारिनं=धावन (पवित्र) का अतिक्रमण कर चलने वाले अर्थात् पवित्राचरण का अतिक्रमण करने वाले को। सानि=अपने (स० स्वानि)।

अनुवाद—जिस प्रकार लोहे से निकला हुआ मैल (जंग) उससे निकलकर उसे ही खा लेता है, उसी प्रकार पवित्राचरण का अतिक्रमण करने वाले को (उसके) अपने (ही) कर्म दुर्गति को ले जाते हैं।

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—लालुदायी थेर]

२४१. असज्झायमला मन्ता, अनुट्ठानमला घरा।
मलं वण्णस्स कोसज्जं, पमादो रक्खतो मलं ॥७॥

शब्दार्थ :—असज्झायमला मन्ता=मन्त्र अस्वाध्याय मल वाले हैं अर्थात् मन्त्रों का मैल स्वाध्याय न करना है। अनुट्ठानमला घरा=गृहों का मैल अनुत्थान (मरम्मत न करना) है। कोसज्ज=आलस्य (स० कौसीद्यम्)।

अनुवाद :—स्वाध्याय न करना मन्त्रों का मल है, मरम्मत न करना घरों का मल है। वर्ण (सौन्दर्य) का मैल आलस्य है (और) असावधानी रक्षक (पहरेदार) का मैल है।

[स्थान—राजगह (वेणुवन), व्यक्ति—अञ्ञतर कुलपुत्त]

२४२. मलित्थिया[3] दुच्चरितं, मच्छेरं ददतो मलं।
मला वे पापका धम्मा, अस्मिं लोके परम्हि च ॥८॥

शब्दार्थ :—मलित्थिया=(मलो+इत्थिया) स्त्री का मैल। मच्छेरं=कृपणता (मात्सर्य)। पापका धम्मा=बुरे धर्म अर्थात् बुरे कर्म[4]।

---

१. रो०—तदुट्ठाय। २. सि०—सककम्मानि। ३ ना०—मलित्थिया।
४ गाथा ८७ में इन्हीं को 'कृष्ण धर्म' कहा गया है।

अनुवाद—दुराचरण स्त्री का मैल है, कृपणता दानी का मैल है। बुरे कर्म इस लोक तथा परलोक में (भी) मैल हैं।

२४३. ततो मला मलतरं, अविज्जा परमं मलं।
एतं मलं पहन्त्वान[1], निम्मला होथ भिक्खवो ॥६॥

शब्दार्थ—ततो मला—उस मैल से। होथ—हो (लोट्, मध्यम पुरुष द्विवचन में 'भू' धातु का रूप)।

अनुवाद :—उस मैल से भी अधिक मैल अविद्या परम मैल है। इस मैल को छोड़कर हे भिक्षुओ! निर्मल हो जाओ।

विशेष—'अविद्या' सबसे बड़ा मैल है। इस लोक तथा परलोक में भी जितनी दुर्गति होती है, उन सबकी मूल अविद्या ही है। इतिवुत्तक में विज्जासुत्त (२) में कहा भी गया है—

"या काचिमा दुग्गतियो अस्मिं लोके परम्हि च।
अविज्जामूलिका सब्बा, इच्छालोभसमुस्सया॥
यतो च होति पापिच्छो अहिरीको[2] अनादरो।
ततो पापं पसवति अपायं तेन गच्छति॥
तस्मा छन्दं च लोभं च अविज्जं च विराजयं।
विज्जं उप्पादयं भिक्खु सब्बा दुग्गतियो जहे ति॥

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—चुल्लसारि]

२४४. सुजीवं अहिरीकेन, काकसूरेन धंसिना।
पक्खन्दिना पगब्भेन, संकिलिट्ठेन जीवितं ॥१०॥

शब्दार्थ :—सुजीवं—आसानी से जीने योग्य (सं० सुजीव्यम्)। काकसूरेन कौआ के समान (स्वार्थ में) शूर। धंसिना—दूसरों का अहित करने वाला। पक्खन्दिना—पतित। पी० एल० वैद्य ने हस्तक्षेप करने वाला (Meddle-some) और मैक्समूलर ने अपकारी (an insulting) अर्थ किया है। संकिलिट्ठेन—पापी।

अनुवाद :—निर्लज्ज, कौआ के समान (स्वार्थ) में शूर, दूसरे का अहित

१. ना०—पहन्त्वान। २. अहीक (निर्लज्ज)।

करने वाले, पतित, प्रगल्भ और पापी (व्यक्ति) का जीवन आसानी से जीने योग्य होता है।

२४५. हिरीमता च दुज्जीवं, निच्चं सुचिगवेसिना।
अलीनेनाप्पगब्भेन, सुद्धाजीवेन पस्सता ॥११॥

शब्दार्थ :—अलीनेन—सचेत या आलस्य रहित। पस्सता—ज्ञानी।

अनुवाद :—लज्जावान् पवित्रता की खोज करने वाले, सचेत, अप्रगल्भ (quiet), शुद्ध जीविका वाले (spotless) और ज्ञानी व्यक्ति का जीवन कठिनाई से जीने योग्य होता है।

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—पञ्चसत उपासक[१]]

२४६. यो पाणमतिपातेति, मुसावादं च भासति।
लोके अदिन्नमादियति, परदारं च गच्छति ॥१२॥

२४७. सुरामेरयपानं च, यो नरो अनुयुञ्जति।
इधेवमेसो लोकस्मिं, मूलं खणति अत्तनो ॥१३॥

शब्दार्थ :—पाणमतिपातेति—प्राणियों का वध करता है। अदिन्नं—दी हुई (वस्तु का)। आदियति—लेता है (आदत्ते) एसो—वह।

अनुवाद :—जो व्यक्ति प्राणियों का वध करता है, झूठ बोलता है, संसार में न दी हुई वस्तु को लेता है (अर्थात् चोरी करता है) और परस्त्री गमन करता है और जो मनुष्य सुरा और मैरेय के सेवन में लगा रहता है, वह यहीं इसी संसार में अपनी जड़ खोदता है।

विशेष—महात्मा विदुर के इस वचन से तुलना कीजिये—

अनर्थं विप्रवासं गृहेभ्यः, पापैः सन्धिं परदाराभिमर्शम्।
दम्भं स्तैन्यं पैशुनं मद्यपानं, न सेवते यश्च सुखी सदैव ॥
(विदुर नीति, १।११३)

२४८. एवं भो पुरिस जानाहि, पापधम्मा असञ्ञता।
मा तं लोभो अधम्मो च, चिरं दुक्खाय रन्धयुं ॥१४॥

---

१ औल्डस्‍म संस्करण में यहाँ स्थान व व्यक्ति का निर्देश नहीं मिलता।

शब्दार्थ :—असञ्ञता—संयम रहित । त—तुमको (सं० त्वाम्), रन्धयुं—जलाते रहें (सं० रन्धनु) ।

अनुवाद—हे पुरुष ! असंयमी इस प्रकार पाप करने वाले होते हैं—(यह) जान लो । तुम्हें लोभ और अधर्म चिरकाल तक दुःख में न जलाते रहें ।

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—तिस्सदहर]

२४९. ददाति वे यथासद्धं, यथापसादनं जनो ।
तत्थ यो मङ्कु भवति[1], परेसं पानभोजने ।
न सो दिवा वा रत्तिं वा, समाधिमधिगच्छति ।।७।।

शब्दार्थ—यथासद्ध = श्रद्धानुसार । यथापसादन = प्रसन्नतानुसार । मङ्कु = मूक । समाधि = शान्ति, एकाग्रता ।

अनुवाद—मनुष्य (अपनी) श्रद्धा और प्रसन्नता के अनुसार दान देता है, वहां दूसरों के खान-पान में जो मौन रहता है, वह दिन या रात कभी भी शान्ति का लाभ नहीं करता ।

२५०. यस्स चेतं[2] समुच्छिन्नं, मूलघच्चं समूहतं ।
स वे दिवा वा रत्तिं वा, समाधिमधिगच्छति ।।८।।

शब्दार्थ—चेतं = च + एतं = चैतत् । मूलघच्चं = नष्ट करने योग्य जड़ । समूहत = उखाड़ दी गयी है ।

अनुवाद—और जिस व्यक्ति के ये (विचार) नष्ट हो गये हैं तथा (दुर्विचारों की) नष्ट करने योग्य जड़ उखाड़ दी गयी है, वह दिन या रात में (अर्थात् हर समय) शान्ति-लाभ करता है ।

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—पञ्च उपासक]

२५१. नत्थि रागसमो अग्गि, नत्थि दोससमो गहो ।
नत्थि मोहसमं जालं, नत्थि तण्हासमा नदी ।।९।।

शब्दार्थ—गहो = ग्रह । डा० फउसबोल ने इसका अर्थ 'बन्धन' (Captivitas), मैक्स ने जाल (fetter) और मैक्समूलर ने 'ग्राह' (shark) अर्थ किया है ।

---

1. म०—तत्थ यो च मङ्कु होति । सि०—तत्थ वे मङ्कु यो होति । स्या०—तत्थ यो मङ्कु हो होति ।   2. मार०—च त ।

अनुवाद—राग (आसक्ति) के समान अग्नि नहीं है, द्वेष के समान ग्रह नहीं है मोह के समान जाल नहीं है, और तृष्णा के समान नदी नहीं है।

विशेष—इस गाथा की तुलना धम्मपद की गाथा २०२ से कीजिये। दोनों गाथाओं का पूर्वार्द्ध प्रायः अक्षरशः मिलता है।

[स्थान—जातियावन (भद्दियनगर), व्यक्ति—मेण्डक सेट्ठि]

२५२ सुदस्सं वज्जमञ्ञेसं, अत्तनो पन दुद्दसं।
परेसं हि सो वज्जानि, ओपुनाति यथा भुसम।
अत्तनो पन छादेति, कलिंव कितवा सठो ॥१८॥

शब्दार्थ—वज्ज—दोष (सं० वद्यम्)। पन=पुनः। ओपुनाति=फैलाता है (सं० अवपुनाति)। भुस=भूसा (सं० बुसम्)। छादेति=ढकता है, छुपाता है। कलि=पासा। कितवा=जुआरी से।

अनुवाद—दूसरों का दोष देखना सरल है किन्तु अपना (दोष) देखना कठिन है। वह दूसरों के दोषों को भूसे की तरह फैलाता है किन्तु अपने (दोषों को) उसी तरह छुपाता है जैसे शठ (धूर्त) जुआरी से पासा छुपाता है।

विशेष—इस सूक्ति से तुलना कीजिये—

नरः सर्षपमात्राणि परछिद्राणि पश्यति।
आत्मनो बिल्वमात्राणि पश्यन्नपि न पश्यति॥

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—उज्झानसञ्ञि थेर]

२५३. परवज्जानुपस्सिस्स, निच्चं उज्झानसञ्ञिनो।
आसवा तस्स वड्ढन्ति, आरा सो आसवक्खया ॥१९॥

शब्दार्थ—परवज्जानुपस्सिस्स=दूसरों के दोष देखने वाले का। उज्झानसञ्ञिनो=(अपध्यान+संज्ञिन.) बुरे विचारों के साथी का। टीकाकार भदन्त बुद्धघोष 'परेस रन्ध्रगवेसिनाय' अर्थ किये हैं लेकिन मैक्समूलर 'कष्ट देने के लिए सदैव उद्युक्त रहने वाले का' (always inclined to be offended) ऐसा अर्थ करते हैं। आरा=दूर (सं० आरात्)।

अनुवाद—दूसरों के दोष देखने वाले (और) सदैव बुरे विचारों से साथी (उस) के चित्त के मैल बढ़ते हैं। वह चित्त के मैलों के विनाश से दूर है।

[स्थान—कुसिनारा, व्यक्ति—सुभद्दपरिब्राजक

२५४. आकासेव पद नत्थि, समणो नत्थि बाहिरे।
पपञ्चाभिरता पजा, निप्पपञ्चा तथागता ॥२०॥

अनुवाद—जैसे आकाश मे मार्ग नही है, (बुद्ध-संघ से) बाहर (सच्चा) श्रमण नहीं है। प्रजा प्रपञ्चो मे लिप्त है, तथागत प्रपञ्च रहित हैं।

विशेष—इस गाथा की प्रथम पंक्ति का अनुवाद डा० फ़ज़बोल ने 'No one who is outside the Buddhist Community can walk through the air, but only a Samana', मैक्समूलर ने 'a man is not a Samana by outword acts' और D' Alwis ने 'There is no foot-print in the air, there is not a Samana out of the pale of the Buddhist Community' किया है।

२५५. आकासेव पद नत्थि, समणो नत्थि बाहिरे।
संखारा सस्सता नत्थि, नत्थि बुद्धानमिञ्जितं ॥२१॥

शब्दार्थ—सस्सता = शाश्वत। इञ्जित = अस्थिरता (सं० इङ्गितम्)।

अनुवाद—जैसे आकाश में मार्ग नहीं है, (बुद्ध-संघ से) बाहर (सच्चे) श्रमण नहीं हैं। संस्कार शाश्वत नहीं होते। बुद्धों में अस्थिरता नहीं होती।

---

१६. धम्मट्ठवग्गो एकुनवीसतिमो

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—विनिच्छय महामच्च]

२५६. न तेन होति धम्मट्ठो, येनत्थं साहसा[1] नये।
यो च अत्थं अनत्थं च, उभो निच्छेय्य पण्डितो ॥१॥

शब्दार्थः—साहसा—साहस अर्थात् क्रूरता से (by violence—मैक्समूलर)। निच्छेय्य—निश्चय करे (सं० निश्चिनुयात्)।

---

१. ना०—सहसा।

अनुवाद —जो मनुष्य क्रूरता (या शक्ति) से अर्थ (वास्तविकता) को (सामने) लाय (तो) उससे वह धर्मात्मा नहीं हो जाता। किन्तु जो अर्थ (वास्तविकता) और अनर्थ (अवास्तविकता) दोनों को निश्चय करे वही पण्डित है।

२५७. असाहसेन धम्मेन, समेन नयती परे।
धम्मस्स गुत्तो मेधावी, धम्मट्ठो' ति पवुच्चति ॥३॥

शब्दार्थ :—परे—दूसरों को। गुत्तो—रक्षक। पवुच्चति—कहा जाता है (स० प्रोच्यते)।

अनुवाद :—जो मनुष्य दुस्साहस छोड़कर समान धर्म से दूसरों को (सन्मार्ग में) ले जाता है वह धर्म का रक्षक, मेधावी और धर्मिष्ठ है।

[स्थान—जेतवन व्यक्ति—छब्बगिय भिक्खु¹]

२५८. न तेन पण्डितो होति, यावता बहु भासति।
खेमी अवेरी अभयो, पण्डितो' ति पवुच्चति ॥४॥

अनुवाद :—जो मनुष्य जितना अधिक बोलता है, (केवल) इसी से वह पण्डित नहीं हो जाता। क्षेम चाहने वाला, वैर रहित (और) निर्भय (व्यक्ति ही) पण्डित कहा जाता है।

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—एकुदान थेर]

२५९. न तावता धम्मधरो, यावता बहु भासति।
यो च अप्पं पि सुत्वान, धम्मं कायेन पस्सति।
स वे धम्मधरो होति, यो धम्मं नप्पमज्जति ॥५॥

अनुवाद —जो मनुष्य जितना अधिक बोलता है (केवल) इसी से वह धर्मधर नहीं हो जाता। किन्तु जो थोड़ा भी सुनकर शरीर से धर्म को देखता (धर्म का आचरण करता है) और जो धर्म में प्रमाद नहीं करता वही धर्मधर होता है।

१. मा०—वग्गिय भिक्खु।

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—लकुण्टकभद्दिय थेर]

२६०. न तेन थेरो सो होति, येनस्स पलितं सिरो।
परिपक्को वयो तस्स, मोघजिण्णो' ति वुच्चति ॥५॥

शब्दार्थ :—पलित—बुढ़ापे के कारण सफेद। मोघजिण्णो—व्यर्थ बुड्ढा।

अनुवाद :—जिस मनुष्य का सिर बुढ़ापे के कारण सफेद हो गया है, भी मैं वह थेर (स्थविर—वृद्ध) नहीं हो सकता। उसकी आयु परिपक्व हो यी है (फिर भी) व्यर्थ ही बुड्ढा कहा जाता है।

विशेष :—इस गाथा में वयोवृद्ध की अपेक्षा धर्मवृद्ध को ही श्रेष्ठ माना या है। विदुर ने भी कहा है—"न ते वृद्धा ये न वदन्ति धर्मम्"—

(विदुर नीति, ३। ५८)

२६१. यम्हि सच्चं च धम्मो च, अहिंसा संयमो[1] दमो।
स वे वन्तमलो धीरो, थेरो इति[2] पवुच्चति ॥६॥

अनुवाद :—जिसमें सत्य, धर्म, अहिंसा, संयम एवं दम है, वही मल हित, धीर (और) थेर (वृद्ध) कहा जाता है।

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—सम्बहुल भिक्खु]

२६२. न वाक्करणमत्तेन, वण्णपोक्खरताय वा।
साधुरूपो नरो होति, इस्सुकी मच्छरी सठो ॥७॥

शब्दार्थ—वाक्करणमत्तेन—वाक् (वाणी) के कारण (साधन) मात्र से अर्थात् केवल अच्छा वक्ता होने के कारण। वण्णपोक्खरताय—वर्ण की न्दरता के कारण (सं॰ वर्णपुष्करतया)। इस्सुकी—ईर्ष्यालु (ईर्ष्युक)। च्छरी—दम्भी।

अनुवाद—केवल वचन रूपी साधन मात्र से अथवा वर्ण की सुन्दरता के रण (ही) ईर्ष्यालु, दम्भी तथा शठ (धूर्त) मनुष्य साधुरूप नहीं हो जाता।

---

1. सी॰—सञ्ञमो। 2. स्या॰—सो थेरो ति। सा॰—थेरो' ति।

२६३. यस्स चेतं समुच्छिन्नं, मूलघच्चं समूहतं ।
स वन्तदोसो मेधावी, साधुरूपो' ति वुच्चति ।८।

अनुवाद—और जिसके ये (दोष) नष्ट हो गये हैं तथा (दोषों की) नष्ट करने योग्य जड़ उखाड़ दी गयी है, वह दोषरहित, मेधावी (मनुष्य) साधुरूप कहा जाता है ।

[स्थान—सावत्थी[1], व्यक्ति—हत्थक भिक्खु]

२६४. न मुण्डकेन समणो, अब्बतो अलिकं भणं ।
इच्छालोभ[2] समापन्नो, समणो किं भविस्सति ।६।

अनुवाद—व्रतरहित, झूठ बोलने वाला (व्यक्ति) मुण्डन करा लेने (मात्र) से श्रमण नहीं हो जाता । इच्छा और लोभ से भरा (मनुष्य) श्रमण क्या होगा ?

२६५. यो च समेति पापानि, अणुं थूलानि सब्बसो ।
समितत्ता हि पापानं, समणो' ति पवुच्चति ।१०।

शब्दार्थ—समेति = शमन करता है । सब्बसो = सर्वथा । समितत्ता हि = शमित होने के कारण ही (सं० शमितत्वाद् हि) ।

अनुवाद—और जो छोटे-बड़े पापों को सर्वथा शमन करता है (वह व्यक्ति) पापों के शमित होने के कारण ही श्रमण कहा जाता है ।

विशेष—'पापानं समितत्ता हि समणो' समण की यह व्युत्पत्ति संस्कृत शब्द 'श्रमण' (√श्रम = परिश्रम करना) से एकदम भिन्न है । संस्कृत 'शम' पालि में 'सम' हो जाता है, बौद्धों ने इसी से 'समण' की निष्पत्ति कर ली है । ऐसी मनगढन्त व्युत्पत्तियां संस्कृत काव्यों और धर्मशास्त्रों में भी देखी जा सकती हैं ।

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—अञ्ञतर ब्राह्मण]

२६६. न तेन भिक्खु सो होति, यावता भिक्खते परे ।
विस्सं धम्मं समादाय, भिक्खु होति न तावता ।११।

---

१. ए० क नारायण ने सिंहली के पाठ के आधार पर स्थान 'जेतवन' माना है ।
२. सा० लाभ ।

शब्दार्थ—परे = दूसरों से (सं० परान्)। विस्सं = समस्त (सं० विश्वम्)।

अनुवाद—वह (मनुष्य) केवल इतने मात्र से ही भिक्षु नहीं हो जाता है कि वह दूसरों से भिक्षा मांगता है। समस्त धर्मों को ग्रहण करके मनुष्य भिक्षु नहीं हो जाता।

२६७. योध पुञ्‍ञं च पापं च, बाहेत्वा ब्रह्मचरिवा।
संखाय लोके चरति, स वे भिक्खू' ति वुच्चति ।।१२।।

शब्दार्थ—योध = (य + इह) जो यहाँ। बाहेत्वा = छोड़कर। सखाय[1] = ज्ञान से (सं० सख्याया)।

अनुवाद—जो यहां पुण्य और पाप को छोड़कर ब्रह्मचर्यवान् है (तथा) लोक में ज्ञानपूर्वक विचरण करता है वही भिक्षु कहा जाता है।

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—तितिथय[2]]

२६८. न मोनेन मुनी होति, मूळ्हरूपो अविद्दसु।
यो च तुलं व पग्गय्ह, वरमादाय पण्डितो ।।१३।।

शब्दार्थ—मोनेन = मौन धारण करने से। मूळ्हरूपो = साक्षात् मूर्ख। अविद्दसु = अविद्वान्।

अनुवाद—मौन धारण करने से साक्षात् मूर्ख और अविद्वान् (व्यक्ति) मुनि नहीं हो जाता। किन्तु जो तुला के समान ग्रहण करके (भले-बुरे को तौलता है) और अच्छे को ग्रहण करता है, वह पण्डित है।

२६९. पापानि परिवज्जेति, स मुनी तेन सो मुनी।
यो मुनाति उभो लोके, मुनी तेन पवुच्चति ।।१४।।

शब्दार्थ :—परिवज्जेति—परित्याग करता है। मुनाति—मान करता है। उभो—पाप और पुण्य दोनों को। लोके—संसार में। श्री चन्द्रिकालाल गुप्त ने 'उभो लोके' ऐसी संस्कृत छाया कर 'जो दोनों लोकों का मनन करता है' अर्थ किया है। ए० के० नारायण 'दोनों लोकों का मान करता है' और मैक्समूलर 'who in this world weighs both sides' अर्थ करते हैं।

---

१. 'सख्या' का 'ज्ञान' अर्थ सख्या से बने 'सांख्य' शब्द में देखा सकता है।
२. तीर्थिक।

अनुवाद :—जो पापों का परित्याग करता है वह मुनि है (और) इसी लिये वह मुनि है। जो (इस) संसार में (पाप और पुण्य) दोनों का मान करता है (वह) इसीलिये मुनि कहा जाता है।

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—अरिय बालिसिक]

२७०. न तेन अरियो होति, येन पाणानि हिंसति।
अहिंसा सब्बपाणानं, अरियो' ति पवुच्चति ।१५॥

अनुवाद :—इससे कोई मनुष्य आर्य नहीं हो जाता कि वह प्राणियों की हिंसा करता है। सब प्राणियों की अहिंसा से ही आर्य कहा जाता है।

विशेष—मैक्समूलर की यह टिप्पणी ध्यान देने योग्य है—

"It seems as if the writer wished to guard again deriving ariya from ari, enemy." आर्य की परिभाषा के लि देखिये गाथा २२।

[स्थान—जेतवन व्यक्ति—सम्बहुल सीलादिसम्पन्न भिक्खु]

२७१. न सीलब्बतमत्तेन, बाहुसच्चेन वा पन।
अथवा समाधि लाभेन, विवित्तसयनेन वा ॥१६॥

२७२. फुसामि नेक्खम्मसुखं, अपुथुज्जनसेवितं।
भिक्खु विस्सासमापादि, अप्पत्तो आसवक्खयं ॥१७॥

शब्दार्थ :—बाहुसच्चेन—बहुत पढ़ने से (तिपिटक पिटकान उग्गण्हितमत्तेन-बुद्धघोष) स० बाहुश्रुत्येन। विवित्तसयनेन—एकान्त शयन से। नेक्खम्मसुख—नैष्कर्म्यं सुख। अपुथुज्जनसेवित—अपृथक् जनों से सेवित अर्थात् बुद्धों से सेवित विस्सासमापादि—(विश्वास + मा + पादी) विश्वास मत करो। अप्पत्तो—अप्राप्त।

अनुवाद :—केवल शील और व्रत धारण करने मात्र से अथवा बहु पढ़ने से, समाधि लाभ से या एकान्त शयन से ही (मैं) बुद्धों द्वारा सेवित नैष्क सुख का स्पर्श करता हूं। हे भिक्षु! आस्रवों (चित्त के मैलों) के क्षय को बिन [illegible]

२०. मग्गवग्गो वीसतिमो

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—पञ्चसत भिक्खु]

२७३. मग्गानट्ठङ्गिको सेट्ठो, सच्चानं चतुरो पदा ।
विरागो सेट्ठो धम्मानं, द्विपदानं च चक्खुमा ॥१॥

शब्दार्थ :—द्विपदान = द्विपदों अर्थात् मनुष्यों में । चक्खुमा = चक्षुमान् अर्थात् ज्ञानवान् ।

अनुवाद :—मार्गों में अष्टाङ्गिक मार्ग श्रेष्ठ है सत्यों में चार वाक्य श्रेष्ठ हैं । धर्मों में वैराग्य और मनुष्यों में ज्ञानवान् श्रेष्ठ है ।

२७४. एसो, व मग्गो नत्थञ्ञो, दस्सनस्स विसुद्धिया ।
एतहि तुम्हे पटिपज्जथ, मारस्सेतं पमोहनं ॥२॥

शब्दार्थ—नत्थञ्ञो = (नत्थि + अञ्ञो) दूसरा नहीं है । विसुद्धिया = विशुद्धि के लिये । तुम्हे = तुम (म० प्रथम) । पटिपज्जथ = प्राप्त करो ।

अनुवाद—दर्शन की विशुद्धि (निर्वाण) के लिये यही मार्ग है, अन्य नहीं है । तुम इसी को प्राप्त करो (अर्थात् इसी मार्ग पर चलो) यह (मार्ग) मार को मोहित करने वाला है ।

विशेष—गाथा के अन्तिम पद का अनुवाद मैक्समूलर ने Everything else is the deceit of Mara (the tempter) किया है । टिप्पणी में वह यह भी लिखते हैं "The last line may mean, 'this way is the confusion of Mara', i. e the discomfiture of Mara."

२७५. एतं हि[1] तुम्हे पटिपन्ना, दुक्खस्सन्तं करिस्सथ ।
अक्खातो वो[2] मया मग्गो, अञ्ञाय सल्लसन्थनं[3] ॥३॥

शब्दार्थ —पटिपन्ना — प्राप्त हुए (सं० प्रतिपन्ना) । अक्खातो—कहा गया है । अञ्ञाय—जानकर (सं० आज्ञाय) । सल्लसन्थन—शल्य (दुःख) का संस्थान

१. द०—एताहि ।   २. रो०—व, मो०—व ।
३. मा० —सल्लकन्तन ।

—विनाश (रागादिसल्लादीन सथन निम्मथन—बुद्धघोष)।

अनुवाद :—इस (मार्ग) को प्राप्त हुए तुम दुःख का अन्त कर लोगे दुःख के विनाश को जानकर मेरे द्वारा यह मार्ग कहा गया है।

२७६. तुम्हेहि किच्चमातप्पं, अक्खातारो तथागता।
पटिपन्ना पमोक्खन्ति, झायिनो मारबन्धना ॥४॥

शब्दार्थ—तुम्हेहि—तुम्हारे द्वारा किच्च—की जानी है (सं० कार्यम्) आतप्प—तपस्या। पमोक्खन्ति—मुक्त होंगे।

अनुवाद :—तपस्या तुम्हारे द्वारा (ही) की जानी है, तथागत (तो) उपदेष्टा है। (उपर्युक्त मार्ग को) प्राप्त हुए ध्यानशील मार के बन्धन से मुक्त हो जायग।

२७७. सब्बे संखारा अनिच्चाति यदा पञ्ञाय पस्सति।
अथ निब्बिन्दति[1] दुक्खे, एस मग्गो विसुद्धिया ॥५॥

अनुवाद—'सभी सस्कार अनित्य है' इस प्रकार जब (मनुष्य) प्रज्ञा देखता है तब (वह) दुःखो से मुक्ति को प्राप्त होता है। विशुद्धि (निर्वाण) का यही मार्ग है।

विशेष—मैक्सम्यूलर ने गाथा के प्रथम पाद का अनुवाद 'All created things perish' किया है।

२७८. सब्बे सखारा दुक्खा ति, यदा पञ्ञाय पस्सति।
अथ निब्बिन्दति दुक्खे, एस मग्गो विसुद्धिया ॥६॥

अनुवाद — सभी सस्कार दुःखमय है' इस प्रकार जब (मनुष्य) प्रज्ञा देखता है तब (वह) दुःखो से मुक्ति को प्राप्त हो जाता है। विशुद्धि (निर्वाण) का यही मार्ग है।

२७९. सब्बे धम्मा अनिच्चा[2]' ति, यदा पञ्ञाय पस्सति।
अथ निब्बिन्दति दुक्खे, एस मग्गो विसुद्धिया ॥७॥

अनुवाद—'सभी धर्म अनित्य है' इस प्रकार जब (मनुष्य) प्रज्ञा से देखता है तब (वह) दुःखो से मुक्ति को प्राप्त हो जाता है। विशुद्धि (निर्वाण) का यही मार्ग है।

१. चौ०—निब्बिदती। २. ना०, चौ०—अनित्ता' ति।

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—पधानकम्मिक तिस्स थेर]

२८०. उट्ठानकालम्हि अनुट्ठहानो,
युवा बली आलसियं उपेतो।
संसन्नसंकप्पमनो कुसीतो,
पञ्ञाय मग्गं अलसो न विन्दति ॥८॥

शब्दार्थ—अनुट्ठहानो—न उठता हुआ (सं० अनुत्तिष्ठन्)। संसन्नसंकप्पमनो—कमजोर संकल्प और मन वाला।

अनुवाद :—उठने के समय न उठता हुआ, युवा और बली होकर भी आलस्य को प्राप्त हुआ, कमजोर संकल्प और मन वाला, दीर्घसूत्री, आलसी (व्यक्ति) प्रज्ञा के मार्ग को प्राप्त नहीं कर पाता।

विशेष :—तुलना कीजिये—

"सुखार्थिन कुतो विद्या विद्यार्थिन कुत सुखम्।"

[स्थान—वेणुवन, व्यक्ति—सूकरपेत]

२८१ वाचानुरक्खी मनसा सुसंवुतो,
कायेन च अकुसलं[1] न कयिरा।
एते तयो कम्मपथे विसोधये,
आराधये मग्गमिसिप्पवेदितं ॥९॥

अनुवाद :—वाणी की रक्षा करने वाला, मन से संयत (और) शरीर से अकुशल (बुरा) काम न करे। इन तीन कर्मपथों को शुद्ध करे। ऋषियों के द्वारा प्रवर्तित मार्ग का सेवन करे।

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—पोठिल थेर]

२८२. योगा वे जायती भूरि, अयोगा भूरिसंखयो।
एतं द्वेधापथं ञत्वा, भवाय विभवाय च।
तथात्तानं निवेसेय्य, यथा भूरि पवड्ढति ॥१०॥

---

१ स०—नाकुसलं।

शब्दार्थ :—भूरि—अगाध ज्ञान (पठविसमाय वित्थताय पञ्ञाय एत ना —बुद्धघोष)। भवाय—उन्नति। विभवाय—विनाश। पवड्ढति—वृद्धि ह (सं० प्रवर्धते)।

अनुवाद :—योग से अगाध ज्ञान उत्पन्न होता है। अयोग (अर्थात् योग न करने) से ज्ञान का क्षय होता है। उन्नति और विनाश के इन दो भिन्न-भिन्न मार्गों को जानकर अपने को इस प्रकार लगावे जिससे ज्ञान की वृद्धि हो।

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—सम्बहुल भिक्खु[१]]

२८३. वनं छिन्दथ मा रुक्खं, वनतो जायते भयं।
छेत्वा वनं च वनथं च, निब्बना होथ भिक्खवो ॥११॥

अनुवाद :—(वासनाओं के) वन को काटो, वृक्ष को नहीं। वन (तृष्णा lust) से भय उत्पन्न होता है। वन और झाड़ (वनथ—झाड़ी स्त्री सम्भो गेच्छा) को काटकर हे भिक्षुओ! वन रहित (वासना-शून्य) हो जाओ।

२८४. याव हि वनथो न छिज्जति, अणुमत्तो पि नरस्स नारिसु।
पटिबद्धमनो व ताव सो, वच्छो खीरपको' व मातरि ॥१२॥

शब्दार्थ :—पटिबद्धमनो—आबद्ध मन वाला। वच्छो—बछड़ा। खीरपको—दूध पीने वाला।

अनुवाद :—जब तक मनुष्य की स्त्री मे लेशमात्र भी सम्भोगेच्छा का नहीं दी जाती तब तक वह (मनुष्य), दूध पीने वाला बछड़ा जिस प्रकार माता (गाय) मे आबद्ध (मन लगाये) रहता है, उसी प्रकार (स्त्री मे) आबद्ध मन वाला रहता है।

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—सुवण्णकारपुत्त थेर[२]]

२८५. उच्छिन्द[३] सिनेहमत्तनो[४] कुमुदं सारदिकं' व पाणिना।
सन्तिमग्गमेव ब्रूहय, निब्बानं सुगतेन देसितं ॥१३॥

---

१ ए० क० नारायण—कोई वृद्ध भिक्षु।
२. यह सारिपुत्तथेर के साथ घूमने वाला था।
३. ना०—उच्छिन्न। ४. सि०—स्नेहमत्तनो।

शब्दार्थ :—उच्छिन्द—उखाड़ दो। सिनेहमत्तनो—आत्मस्नेह को। सारदिकं—शरत्कालीन। ब्रूहय—बढ़ाओ (वड्ढय—बुद्धघोष)।

अनुवाद—जिस प्रकार शरत्कालीन कुमुद को हाथ से उखाड़ देते हैं उसी प्रकार आत्मस्नेह (अपने आप) उखाड़ दो (नष्ट कर दो)। सुगत (बुद्ध) के द्वारा उपदिष्ट शान्तिमार्ग निर्वाण को ही बढ़ाओ।

विशेष :—मैक्सम्यूलर ने गाथा के अन्तिम दोनों पदों को सर्वथा पृथक्-पृथक् मानकर "Cherish the road of peace. Nirvana has been shown by Sugata (Buddha)" अनुवाद किया है।

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—महाधन वाणिज]

२८६. इध वस्सं वसिस्सामि, इध हेमन्तगिम्हिसु।
इति बालो विचिन्तेति, अन्तरायं न बुज्झति ॥१४॥

शब्दार्थ :—वस्स=वर्षा ऋतु में। हेमन्तगिम्हिसु=हेमन्त और ग्रीष्म ऋतु में। अन्तराय=मृत्यु (जीवितान्तराय—बुद्धघोष)।

अनुवाद—'यहाँ वर्षा ऋतु में रहूँगा, यहाँ हेमन्त और ग्रीष्म में' इस प्रकार मूर्ख सोचता है, मृत्यु को नहीं जानता।

विशेष :—महर्षि व्यास ने अपने पुत्र शुकदेव से भी कुछ ऐसी ही बात कही थी—

महापदानि चरयमे न साध्यवेदाजे परम्।
चिरस्य मृत्युकारिकामनागतो न बुध्यसे॥
शा० पर्व, २२१।३३

मृत्यु का कोई भरोसा नहीं, वह किसी भी क्षण आ सकती है। अतः शान्ति के मार्ग में अति शीघ्रता करे—

न यावदेव पच्यते महाजनाय यावकम्।
अपक्व एव यावके पुरा प्रलीयसे त्वर॥
(शा० पर्व, ३२१।४९)

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—किसा गोतमी थेरी]

२८७. तं पुत्तपसुसम्मत्तं, व्यासत्तमनसं नरं।
सुत्तं गामं महोघो व मच्चु आदाय गच्छति॥

अनुवाद—पुत्र और पशु में लिप्त और आसक्त मन वाले उस पुरुष को मृत्यु उसी तरह ले जाती है जैसे सोये हुये गाव को बाढ़[1]।

विशेष—इसी भाव के लिये गाथा ४७ तथा टिप्पणी देखिये।

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—पटाचारा[2]]

२८८. न सन्ति पुत्ता ताणाय, न पिता न पि बान्धवा।
अन्तकेनाधिपन्नस्स, नत्थि ञातीसु ताणता।१६।

शब्दार्थ—ताणाय—रक्षा के लिये (सं० त्राणाय)।

अनुवाद—मृत्यु के द्वारा पकड़े गये मनुष्य की रक्षा के लिये न पुत्र हैं, न पिता हैं, बन्धुगण भी नहीं हैं। जाति वालों से (भी) रखवाली नहीं होती।

विशेष—परलोक को जाते समय संकट में कोई साथ नहीं देता—

न मातृपुत्रबान्धवा न संस्तुतः प्रियो जनः।
अनुव्रजन्ति संकटे व्रजन्तमेकपातिनम्॥
(शा० पर्व, ३२१।५०)

२८९. एतमत्थवसं ञत्वा पण्डितो सीलसंवुतो।
निब्बानगमनं मग्गं, खिप्पमेव विसोधये।१७।

अनुवाद—इस बात को भली भांति जानकर पण्डित, शीलवान् मनुष्य शीघ्र ही निर्वाण की ओर जाने वाले मार्ग को साफ करें।

---

१ तुलनीय—संचिन्वानकमेवैनं कामानामवितृप्तकम्।
व्याघ्रः पशुमिवासाद्य मृत्युरादाय गच्छति॥ (शा० पर्व; ३२१।२०)

२. सा०—पटाचारा थेरी।

२१. पकिण्णकवग्गो[1] एकवीसतिमो

[स्थान—वेणुवन, विषय—अत्तना पुब्बकम्म[2]]

२९०. मत्तासुखपरिच्चागा, पस्से चे विपुलं सुखं।
चजे मत्तासुखं धीरो, सम्पस्सं विपुलं सुखं ॥१॥

शब्दार्थ—मत्तासुखपरिच्चागा—अल्प (मात्रा) सुख के परित्याग से। चजे—छोड़ दे (सं० त्यजेत्)। सम्पस्सं—देखता हुआ।

अनुवाद—अल्प सुख के परित्याग से यदि अधिक सुख देखे तो अधिक सुख को देखता हुआ धीरवान् (व्यक्ति) थोड़े सुख को छोड़ दे।

विशेष—लौकिक सुख स्वल्प है उसकी तुलना में निर्वाण का सुख विपुल है। अतः धीर पुरुष लौकिक सुख की कामना छोड़कर नैष्कर्म्य सुख की प्राप्ति के उद्योग करे।

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—कुक्कुटअण्डखादी]

२९१. परदुक्खूपधानेन[3], अत्तनो सुखमिच्छति।
वेरसंसग्गसंसट्ठो, वेरा सो न परिमुच्चति ॥२॥

शब्दार्थ—परदुक्खूपधानेन—दूसरे को दुःख देने से। संसट्ठो—संसक्त।

अनुवाद :—दूसरे को दुःख देने से (जो) अपने सुख की इच्छा करता है, वैर के संसर्ग में लिप्त हुआ वह वैर से नहीं छूटता।

[स्थान—जातियावन (भद्दियनगर), व्यक्ति—भद्दिय भिक्खु]

२९२. यं हि किच्चं अपविद्धं[4], अकिच्चं पन कयिरति[5]।
उन्नलानं पमत्तानं, तेसं वड्ढन्ति आसवा ॥३॥

शब्दार्थ :—य=जो (यत्)। किच्च=करने योग्य अर्थात् कर्तव्य। अपविद्धं=त्याग है। कयिरति=करता है। उन्नलान=बढ़े हुए मैल वाले।

---

१. प्रकीर्णक। २. ए० ह० नारायण ने स्थान—राजगृह (वेणुवन) और विषय-गंगारोहण लिखा है। ३. स्या०—परदुक्खूपदानेन। ४. स्या०—तदपविद्ध। ५. म०—करीयति।

अनुवाद —जो करने योग्य है वह (मूढ़ के द्वारा) त्यक्त है। किन्तु न करने योग्य को वह करता है। (ऐसे) बढ़े हुए मैल वालों (और) प्रमत्तों के आस्रव (चित्त के मैल) बढ़ते हैं।

२६३. येसं च सुसमारद्धा, निच्चं कायगता सति।
अकिच्चं ते न सेवन्ति, किच्चे सातच्चकारिनो।
सतानं सम्पजानानं, अत्थं गच्छन्ति आसवा ॥४॥

शब्दार्थ—सुसमारद्धा = भली भांति बनी हुई है। कायगता सति = शरीर में (मलिनतादि सम्बन्धी) स्मृति। शरीर बत्तीस प्रकार की गन्दगियों से भरा है—"केसा लोमा नखा दन्ता तचो मंसं नहारू[3] अट्ठि अट्ठिमिञ्जं[4] वक्कं[5] हदयं यकनं[6] किलामकं[7] पिहकं[8] पप्फासं अन्तं अन्तगुणं[9] उदरियं करीसं[10] मत्थलुङ्गं[11] पित्तं सेम्हं[12] पुब्बो[13] लोहितं सेदो मेदो अस्सु वसा खेलो[14] सिंघाणिका[15] लसिका[16] मुत्तं ति—खुद्दकपाठ ३। सतानं = स्मृतिमानों के (सं० स्मरताम्)। सम्पजानानं = बुद्धिमानों के। अत्थं = अस्त को।

अनुवाद —जिनकी स्मृति शरीर (की मलिनतादि के) सम्बन्ध में भली भांति बनी रहती है वे सदैव कर्त्तव्य को करने वाले अकर्त्तव्य का सेवन नहीं करते। (ऐसे) स्मृतिमान् और बुद्धिमानों के चित्त मल अस्त (नाश) को प्राप्त हो जाते हैं।

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—लकुण्टक भद्दिय थेर]

२६४. मातरं पितरं हन्त्वा, राजानो द्वे च खत्तिये।
रट्ठं सानुचरं हन्त्वा, अनीघो याति ब्राह्मणो ॥५॥

शब्दार्थ—मातरं = माता अर्थात् तृष्णा को। पितरं = पिता अर्थात् अहंकार (अभिमान) को। द्वे खत्तिये राजानो = दो क्षत्रिय राजाओं अर्थात् सस्सतदिट्ठि और उच्छेददिट्ठि को। रट्ठं = राष्ट्र अर्थात् द्वादशायतन को। द्वादश आयतन

३ स्नायु। ४ मज्जा। ५ वक्क (गुर्दा)। ६ यकृत्। ७ क्लोमक (lungs)। ८ प्लीहा। ९ फेफड़ा आंत। १० मल। ११. मस्तुलुङ्ग (brain)। १२ कफ। १३. पीब। १४ शुक्र (वीर्य)। १५ सिंहाणिका (नाक का पानी)। १६ लसिका (सार)।

—आँख, कान, नाक, जीभ, काया और मन—ये भीतरी आयतन हैं, रूप, शब्द, गन्ध, रस, स्पर्श और धर्म—ये बाहरी आयतन हैं। सानुचर=अनुचर अर्थात् नन्दिराग सहित। अनीघो=निष्पाप (निद्दुक्खो—दुःखरहित)।

अनुवाद :—माता-पिता को मार कर, दो क्षत्रिय राजाओं को और अनुचर सहित राष्ट्र को नष्ट कर ब्राह्मण निष्पाप (या दुःख रहित) हो जाता है।

२९५. मातरं पितरं हन्त्वा, राजानो द्वे च सोत्थिये।
वेय्यग्घपञ्चमं हन्त्वा, अनीघो याति ब्राह्मणो ॥६॥

शब्दार्थ—वेय्यग्घपञ्चम=पाचवें व्याघ्र का। टीकाकार भदन्त बुद्धघोष ने स्पष्ट किया है — 'एत्थ व्यग्घानुचरितो सप्पटिभयो दुप्पटिपज्जो मग्गो वेय्यग्घो नाम, विचिकिच्छानीवरणं पि तेन सदिसताय वेय्यग्घ नाम, तं पञ्चमं अस्साति वेय्यग्घपञ्चमं नाम।" अर्थात् भयावह जङ्गल में मार्ग आदि को देखकर भी 'व्याघ्र' का संशय हो जाता है, इसीलिये बौद्धशास्त्रों में संशय (विचिकित्सा) को 'वेय्याग्घ' कहा जाता है। कामच्छन्द, व्यापाद, स्त्यान (आलस्य), औद्धत्य और विचिकित्सा—इन पाच नीवरणों में विचिकित्सा (वेय्याग्घ) अन्तिम नीवरण है, अतः उक्त पाचों को भी यहा 'वेय्याग्घपञ्चम' नाम से कहा गया है।

अनुवाद—माता पिता को मारकर, दो श्रोत्रिय राजाओं को और पाचवें व्याघ्र को मारकर ब्राह्मण निष्पाप (या दुःख रहित) हो जाता है।

विशेष—उपर्युक्त दोनों गाथायें 'कूट' (अर्थात् पहेली) हैं। इस प्रकार के कूटवाक्य प्राचीन काल में सामान्य जनता से लेकर विद्वद्वर्ग तक में समान रूप से प्रचलित थे। एक उदाहरण महाभारत से लीजिये—

एकया द्वे विनिश्चित्य त्रींश्चतुर्भिर्वशे कुरु।
पञ्च जित्वा विदित्वा षट् सप्त हित्वा सुखी भव ॥
(विदुरनीति, १।४)

"एक (बुद्धि) से दो (कर्त्तव्य, अकर्त्तव्य) का निश्चय करके चार (साम, दाम, दण्ड, भेद) से तीन (शत्रु मित्र, उदासीन) को वश में करो। पाच (इन्द्रियों) को जीतकर छः (सन्धि, विग्रह, यान आसन, द्वैधीभाव, समाश्रयरूप)

को जानकर सात (स्त्री, द्यूत, मृगया, मद्य, कटुवचन, कठोर दण्ड, अन्याय धनोपार्जन) को छोडकर सुखी बनो।"

[स्थान—जेतवन[1] व्यक्ति—दारुसाकटिकस्स पुत्तो]

२९६. सुप्पबुद्धं पबुज्झन्ति, सदा गोतमसावका।
येसं दिवा च रत्तो च, निच्चं बुद्धगता सति ॥७॥

अनुवाद—जिनकी स्मृति दिन-रात हमेशा बुद्ध विषयक बनी रहती है (वे) गौतम के श्रावक (शिष्य) भली-भांति प्रबुद्ध (होकर) प्रकृष्ट बुद्ध हो जाते है।

२९७. सुप्पबुद्धं पबुज्झन्ति, सदा गोतमसावका।
येसं दिवा च रत्तो, च, निच्चं धम्मगता सति ॥८॥

अनुवाद—जिनकी स्मृति दिन रात हमेशा धर्म विषयक बनी रहती है (वे) गौतम के श्रावक (शिष्य भली-भांति प्रबुद्ध होकर प्रकृष्ट बुद्ध हो जाते हैं।

२९८. सुप्पबुद्धं पबुज्झन्ति, सदा गोतमसावका।
येसं दिवा च रत्तो च, निच्चं सघगता सति ॥९॥

अनुवाद—जिनकी स्मृति दिन-रात हमेशा सघविषयक बनी रहती है (वे) गौतम के श्रावक (शिष्य) भली-भांति प्रबुद्ध होकर प्रकृष्ट बुद्ध हो जाते हैं।

विशेष—उपर्युक्त तीन गाथाओ मे बुद्ध, धर्म और सघ विषयक स्मृति को प्रकृष्ट बुद्ध होने का अन्यतमकरण बताया गया है। इन तीनो का क्रमशः विवेचन इस प्रकार है—

१. बुद्धानुस्सति—इति पि सो भगवा अरहं सम्मासम्बुद्धो विज्जाचरणसम्पन्नो सुगतो लोकविदू अनुत्तरो पुरिसदम्मसारथी सत्था देवमनुस्सानं बुद्धो भगवा' ति तस्स गुणा अनुस्सरितब्बा।

२. धम्मानुस्सति—स्वाक्खातो भगवता धम्मो सन्दिट्ठिको अकालिको एहिपस्सिको ओपनेय्यिको पच्चत्तं वेदितब्बो विञ्ञूहि' ति एवं परियत्तिधम्मस्स चेव नवविधस्स च लोकुत्तरधम्मस्स गुणा अनुस्सरितब्बा।

---

१ ए० क० नारायण ने स्थान—राजगृह (वेणुवन) निर्दिष्ट किया है।

३. संघानुस्सति—सुप्पटिपन्नो भगवतो सावकसंघो, उजुपटिपन्नो भगवतो सावकसंघो, ञायपटिपन्नो भगवतो सावकसंघो, सामीचिपटिपन्नो भगवतो सावकसंघो यदिदं चत्तारि पुरिसयुगानि अट्ठ पुरिसपुग्गला एस भगवतो सावक संघो आहुनेय्यो पाहुनेय्यो दक्खिणेय्यो अञ्जलिकरणीयो अनुत्तरं पुञ्ञक्खेत्तं लोकस्सा' एवं संघस्स गुणा अनुस्सरितब्बा। (श्री पी०एस० वेद्य के संस्करण से साभार उद्धृत)

२९९. सुप्पबुद्धं पबुज्झन्ति, सदा गोतमसावका।
येसं दिवा च रत्तो च, निच्चं कायगता सति ॥१०॥

अनुवाद—जिनकी स्मृति दिन-रात हमेशा शरीर विषय बनी रहती है (वे) गौतम के श्रावक (शिष्य) भली भांति प्रबुद्ध होकर प्रकृष्ट बुद्ध हो जाते हैं।

विशेष—'कायगता सति' के विशेष विवरण के लिये गाथा २९३ देखिये।

३००. सुप्पबुद्धं पबुज्झन्ति, सदा गोतमसावका।
येसं दिवा च रत्तो च, अहिंसाय रतो मनो ॥११॥

अनुवाद :—जिनका मन दिन रात हमेशा अहिंसा में रत रहता है (वे) उन के श्रावक (शिष्य) भली-भांति प्रबुद्ध होकर प्रकृष्ट बुद्ध हो जाते हैं।

३०१. सुप्पबुद्धं पबुज्झन्ति, सदा गोतमसावका।
येसं दिवा च रत्तो च, अहिंसाय रतो मनो ॥१२॥

अनुवाद :—जिनका मन दिन-रात हमेशा भावना (ध्यानाभ्यास) में रत रहता है (वे) गौतम के श्रावक (शिष्य) भली भांति प्रबुद्ध होकर प्रकृष्ट बुद्ध होते हैं।

[स्थान—महावन (वेसाली), व्यक्ति—वज्जिपुत्तक भिक्खु]

३०२. दुप्पब्बज्जं दुरभिरमं, दुरावासा घरा दुखा।
दुक्खोऽसमानसंवासो, दुक्खानुपतितद्धगू।
तस्मा न चद्धगू सिया, न च दुक्खानुपतितो सिया ॥१३॥

शब्दार्थ —दुप्पब्बज्ज = दुष्प्रव्रज्या दुरभिरमं = दुरभिरमणीय। दुरावासा = न रहने योग्य। दुक्खोसमानसंवासो = असमान लोगो का सवास दु खद है। दुक्खानुपतितद्धगू — अद्धगू (अध्वग) = राहगीर (अर्थात् ससार-मार्ग का पथिक), अनुपतितो = गिरा हुआ, दु खी है। चद्धगू = च + अद्धगू (पथिक)।

अनुवाद—दुष्प्रव्रज्या दुरभिरमणीय है, न रहने योग्य घर मे रहना दु खद है। असमान लोगो का सवास दु खद है। (ससार-मार्ग मे) गिरा हुआ पथिक (जीव) दु खी होता है। इसलिये (संसार-मार्ग का) पथिक न बने और न दु ख मे गिरा हुआ बने।

विशेष —डा० पी० एल० वैद्य द्वारा किया गया अनुवाद भी ध्यान देने योग्य है—Hard it is to leave home as a recluse! Hard also to live at home as a house-holder. Hard it is to dwell with the equal : and the itinerant (mendicant) is beset with pain Let no man be, therefore, itinerant and he will not be beset with pain.

[स्थान—जेतवन व्यक्ति—चित्तगहपति]

२०३. सुद्धो सीलेन सम्पन्नो, यसोभोगसमप्पितो।
यं य पदेसं भजति, तत्थ तत्थेव पूजितो ॥१४॥

अनुवाद :—श्रद्धा (और) शील से सम्पन्न, यश (और) भोग से युक्त (व्यक्ति) जिस-जिस प्रदेश मे रहता है, वही वही (वह) पूजित होता है।

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—अनाथपिण्डिकस्स धीता[1]]

२०४. दूरे सन्तो पकासेन्ति, हिमवन्तो' व पब्बतो।
असन्तेत्थ न दिस्सन्ति, रत्तिं खित्ता यथा सरा ॥१५॥

अनुवाद :—बर्फीले पर्वतो के समान सन्त दूर से ही प्रकाशित होते हैं। असन्त रात्रि मे फेंके गये बाणो की तरह समीप मे (एत्थ) भी नही दिखायी देते।

---

१ ए० के० नारायण ने व्यक्ति का नाम (चुल्ल) सुभद्दा दिया है।

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—एकविहारिक[1] थेर]

३०५. एकासनं एकसेय्यं, एको चरमतन्दितो ।
एको दमयमत्तानं, वनन्ते रमितो सिया ॥१६॥

शब्दार्थ :—एकसेय्य=एक शय्या वाला । एको=अकेला । चरमतन्दितो
-विचरण करता हुआ, अतन्दित—आलस्य रहित । रमितो=(रतः) रमण
र ।

अनुवाद :—एक आसन वाला, एक शय्या वाला, आलस्य रहित एकाकी
वचरण करता हुआ (तथा) अपने को दमन करता हुआ (मनुष्य) वन में
त रहे ।

---

२२. निरयवग्गो वावीसतिमो

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—सुन्दरी परिव्राजिका]

०६ अभूतवादी निरयं उपेति, यो वा[2] पि कत्वा 'न करोमि'[3] चाह ।
उभो पि ते पेच्च समा भवन्ति, निहीनकम्मा मनुजा परत्थ ।१।

शब्दार्थ—अभूतवादी—न हुई बात को कहने वाला । पेच्च—मरकर ।
नहीनकम्मा—नीच कर्म करने वाले । परत्थ—दूसरे लोक में ।

अनुवाद—न हुई बात को कहने वाला नरक को जाता है और वह भी जो
रके 'मैं नहीं करता' कहता है । हीनकर्म करने वाले वे दोनों ही मनुष्य मरकर
सरे लोक में समान होते हैं ।

[स्थान—वेणुवन, व्यक्ति—दुश्चरितफलानुभावपीड़ितसत्त]

३०७. कासावकण्ठा बहवो, पापधम्मा असञ्ञता ।
पापा पापेहि कम्मेहि, निरयं ते उपपज्जरे ।२।

---

१. एकाकी विहार करने वाला स्थविर । २. सि०—चा ३ बो—
करोमी, सा०—स्या०—करोमीति ।

अनुवाद—कण्ठ में गेरुआ वस्त्र डालने वाले बहुत से पापी (और) असंयत होते हैं। वे पापी (अपने) पाप कर्मों से नरक में जाते हैं।

विशेष—महाभारतकार ने मोक्षधर्म पर्व के ३२० वें अध्याय में पञ्चशिखाचार्य के निम्न मत को उद्धृत किया है—

काषायधारणं मौण्ड्यं त्रिविष्टब्धं कमण्डलुम्।
लिङ्गान्युत्पथभूतानि न मोक्षायेति मे मतिः ॥४७॥

वहीं नहीं, यम, नियम, काम, द्वेष आदि के सम्बन्ध में पञ्चशिखाचार्य ने गृहस्थों और संन्यासियों को तुल्य ठहराया है—

यमे च नियमे चैव कामे द्वेषे परिग्रहे।
माने दम्भे तथा स्नेहे सदृशास्ते कुटुम्बिभिः ॥वही, ४३॥

यम नियमादि से गृहस्थ भी मोक्ष प्राप्त कर लेता है और काम-द्वेषादि से ग्रसित भिक्षु भी मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता।

[स्थान—महावन (वेसाली), व्यक्ति—वग्गुमुदातीरिय भिक्खु]

३०८. सेय्यो अयोगुलो भुत्तो, तत्तो अग्गिसिखूपमो
यञ्चे भुञ्जेय्य दुस्सीलो रट्ठपिण्डम् असञ्ञतो ॥३॥

शब्दार्थ— अयोगुलो—लोह का गोला। तत्तो—तप्त। यञ्चे—यद्+चेत—यच्चेत्। रट्ठपिण्ड—राष्ट्र का अन्न।

अनुवाद—जो दुराचारी और असंयमी (मनुष्य) राष्ट्र (देश) का अन्न खावे तो (उसकी अपेक्षा) अग्नि की लौ के समान जलता हुआ लोहे का गोला खाना श्रेयस्कर है।

विशेष—मैक्समूलर ने D' Alwis का अनुसरण करते हुये इन दोनों (३०७-८) गाथाओं को विनयपिटक से गृहीत माना है, पर उन्होंने विनयपिटक में इसका स्थान-संकेत नहीं दिया।

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—खेमक[१]]

३०९. चत्तारि ठानानि नरो पमत्तो, आपज्जति परदारूपसेवी।
अपुञ्ञलाभं न निकामसेय्यं, निन्दं ततीयं निरयं चतुत्थं ॥४॥

१ ए० के० नारायण के अनुसार खेम (श्रेष्ठीपुत्र) है, चौखम्बा संस्करण में खेमक को 'अनाथपिण्डिकस्स भागिनेय्यो' बताया गया है।

शब्दार्थ—ठानानि—स्थानों को। आपज्जति—प्राप्त करता है। (सं० आपद्यते)। निकामसेय्य—मनचाही नींद।

अनुवाद—पर-स्त्री का सेवन करने वाला प्रमत्त मनुष्य चार स्थानों (गतियों) को प्राप्त करता है—अपुण्य (पाप) का लाभ, मनचाही नींद का अभाव, तीसरी निन्दा (और) चौथा नरक।

३१०. अपुञ्ञलाभो च गती च पापिका,
भीतस्स भीताय रती च थोकिका।
राजा च दण्डं गुरुकं पणेति, तस्मा नरो परदारं न सेवे ॥५॥

शब्दार्थ—भीताय—भयभीत स्त्री का। रती–प्रेम। थोकिका—थोड़ा सा। पणेति—बनाता है अर्थात् नियत करता है।

अनुवाद—(ऐसे मनुष्य को) अपुण्य लाभ, बुरी-गति और भयभीत (पुरुष) की डरी हुई (स्त्री) की थोड़ी सी प्रीति (प्राप्त होती है) किन्तु राजा भारी दण्ड नियत करता है, इसलिए मनुष्य दूसरे की स्त्री का सेवन न करे।

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—अञ्ञतर दुब्बच भिक्खु]

३११. कुसो यथा दुग्गहितो, हत्थमेवानुकन्तति[1]।
सामञ्ञं दुप्परामट्ठं, निरयाय उपकड्ढति ॥६॥

शब्दार्थ:—अनुकन्तति=काट देती है। सामञ्ञ=श्रामण्य। दुप्परामट्ठं=ठीक तरह से ग्रहण न किया गया। निरयाय=नरक के लिये। उपकड्ढति खींचता है (सं० उपकर्षति)।

अनुवाद:—जिस प्रकार ठीक तरह से न पकड़ी गयी कुशा हाथ को काट देती है (उसी प्रकार) ठीक तरह ग्रहण न किया गया श्रामण्य नरक के लिये खींचता है।

३१२. यं किञ्चि सिथिलं कम्मं, सङ्किलिट्ठं च यं वतं।
सङ्कस्सरं ब्रह्मचरियं, न तं होति महप्फलं ॥७॥

शब्दार्थ—सङ्किलिट्ठ=क्लेश युक्त। सङ्कस्सर=शङ्का और काम से युक्त।

अनुवाद:—जो कोई कर्म शिथिल है, जो व्रत क्लेश युक्त है और (जो) ब्रह्मचर्य शङ्का और स्मर (काम) से युक्त है वह महाफल (दायक) नहीं होता,

१ अ०—निरयायुपकड्ढति।

३१३. कयिरञ्चे[1] कयिराथेन, दल्हमेन परक्कमे ।
सिथिलो हि परिब्बाजो भिय्यो आकिरते रज ॥८॥

शब्दार्थ—कयिरञ्चे = यदि करना है (सं० कुर्याच्चेत्) । कयिराथेन एन (इसे अर्थात् प्रव्रज्या कर्म को) + कयिराथ = करे (सं० कुर्वीत) । परक्कमे पराक्रम करे । भिय्यो = होकर (सं० भूय) । आकिरते = बिखेरता है ।

अनुवाद—यदि प्रव्रज्या कर्म को करना है तो उसे कर डाले इसे दृढ़तापूर्वक पराक्रम करे, क्योंकि शिथिल हुआ परिव्राजक धूल (ही) बिखेरता है

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—अञ्जतरा इस्सापकता[2] इत्थि]

३१४. अकत दुक्कत[3] सेय्यो पच्छा[4] तप्पति[5] दुक्कत ।
कत च सुकत सेय्यो, य कत्वा नानुतप्पति ॥९॥

अनुवाद—दुष्कृत (पाप) न करना श्रेष्ठ है (क्योंकि वह) पीछे दुख देता है । सुकृत (पुण्यकर्म) करना श्रेष्ठ है जिसे करने के बाद (मनुष्य) दुखी नही होता ।

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—सम्बहुल आगन्तुक भिक्खु]

३१५. नगर यथा पच्चन्त' गुत्त' सन्तरबाहिर ।
एव गोपेथ अत्तान, खणो वे[6] मा उपच्चगा ।
खणातीता हि सोचन्ति, निरयम्हि समप्पिता ॥१०॥

शब्दार्थ—पच्चन्त = सीमान्त (सं० प्रत्यन्तम्) । सन्तरबाहिर = भीतर बाहर से । उपच्चगा = चला जाये (सं० उपातिगात्) । निरयम्हि = नरक में ।

अनुवाद—जिस प्रकार सीमान्त नगर भीतर-बाहर से (भली-भाँति) रक्षित होता है उसी प्रकार अपने को (भीतर-बाहर से) रक्षा करे । क्षण (अवसर) न चला जाय । अवसर निकाल देने वाले निश्चय ही नरक में पड़े हुए शोक करते हैं ।

---

१ सि०—कयिरा चे ना०—कयिरा च । २. कोई ईर्ष्यालु स्त्री । ३ ब०—दुक्कट । ४ ची०—पच्छा । ५ सा०—तपति । ६ ना०—वो ।

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—निगण्ठ[1]]

३१६. अलज्जिताये[2] लज्जन्ति, लज्जिताये[3] न लज्जरे।
मिच्छादिट्ठिसमादाना, सत्ता गच्छन्ति दुग्गतिं ॥११॥

अनुवाद :—लज्जा न करने योग्य (कार्यों) में (जो) लज्जा करते हैं (और) लज्जा करने योग्य (कार्यों) में लज्जा नहीं करते (वे) मिथ्यादृष्टि ग्रहण करने वाले प्राणी (सत्ता=सत्त्वा) दुर्गति को प्राप्त होते हैं।

३१७. अभये भयदस्सिनो, भये चाभयदस्सिनो।
मिच्छादिट्ठिसमादाना, सत्ता गच्छन्ति दुग्गतिं ॥१२॥

अनुवाद :—अभय में भय देखने वाले और भय में अभय देखने वाले, मिथ्यादृष्टि को ग्रहण करने वाले प्राणी दुर्गति को प्राप्त होते हैं।

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—तित्थियसावक]

३१८. अवज्जे वज्जमतिनो, वज्जे चावज्जदस्सिनो।
मिच्छादिट्ठिसमादाना, सत्ता गच्छन्ति दुग्गतिं ॥१३॥

अनुवाद :—दोष रहित (कार्यों) में दोष बुद्धि वाले और दोषयुक्त (कार्यों) में अदोष देखने वाले, मिथ्यादृष्टि को ग्रहण करने वाले प्राणी दुर्गति को प्राप्त होते हैं।

३१९. वज्जं च वज्जतो ञत्वा, अवज्जं च अवज्जतो।
सम्मादिट्ठिसमादाना, सत्ता गच्छन्ति सुग्गतिं ॥१४॥

अनुवाद :—दोषयुक्त को सदोष जानकर और निर्दोष को दोष रहित जानकर सम्यक् दृष्टि को ग्रहण करने वाले प्राणी सद्गति को प्राप्त होते हैं।

---

१. जैन दिगम्बर साधु (निर्ग्रन्थ)। २. सा०—अलज्जितावे। ३. सा०—लज्जिताव।

२३. नागवग्गो तेवीसतिमो

[स्थान—कोसम्बी[1], व्यक्ति—आनन्दत्थेर]

३२०. अहं नागो' व संगामे, चापतो पतितं सरं।
अतिवाक्यं तितिक्खिस्सं, दुस्सीलो हि बहुज्जनो ॥१॥

शब्दार्थ— चापतो—धनुष से। अतिवाक्यं—कटु वाक्य को। तितिक्खिस्सं—सहन करूंगा (स० तितिक्षिष्ये)।

अनुवाद— मैं कटु वाक्य को सहन करूंगा जैसे हाथी संग्राम में धनुष से छूटे हुये बाण को (सहन करता है)। दुःशील (मनुष्य) निश्चय ही अधिक हैं।

३२१. दन्तं नयन्ति समितिं, दन्तं राजाभिरूहति।
दन्तो सेट्ठो मनुस्सेसु, यो' तिवाक्यं तितिक्खति ॥२॥

शब्दार्थ— दन्तं—दमन किये गये अर्थात् वशीकृत (हाथी) को। समितिं—युद्ध में। तितिक्खति—सहन करता है (स० तितिक्षते)।

अनुवाद—वश में किये गये (हाथी) को युद्ध में ले जाते हैं, वशीकृत (हाथी) पर राजा चढ़ता है। मनुष्यों में जिसने अपने को दमन कर लिया है (वही) श्रेष्ठ है जो कटुवाक्य को सहन करता है।

३२२. वरमस्सतरा दन्ता, आजानीया च सिन्धवा।
कुञ्जरा च महानागा, अत्तदन्तो ततो वरं ॥३॥

शब्दार्थ— अस्सतरा—खच्चर। आजानीया—अच्छी नस्ल के घोड़े (स० आजानेयाः)। शब्दकल्पद्रुम में 'आजानेय' की परिभाषा इस प्रकार दी गयी है—

"शक्तिभिर्भिन्नहृदयाः स्खलन्तोऽपि पदे-पदे।
आजानन्ति यतः संज्ञां आजानेयास्ततः स्मृताः ॥"

शब्दार्थ— कुञ्जरा च महानागा—यद्यपि कुञ्जर और महानाग दोनों का अर्थ हाथी है फिर भी 'महानागकुञ्जर' ऐसा शब्द मान लेने पर 'श्रेष्ठ

1. ए० म० न.लन्दा में स्थान का नाम 'जेतवन' दिया है।

बड़ा हाथी' अर्थ होगा। अमर कोषकार का वाक्य है—

> "स्युरुत्तरपदे व्याघ्रपुङ्गवर्षभकुञ्जराः।
> सिंहशार्दूलनागाद्याः पुंसि श्रेष्ठार्थवाचकाः॥"

अनुवाद— दमन किये गये खच्चर, सिन्ध के अच्छी नस्ल के घोड़े और श्रेष्ठ (ऊँचे) बड़े हाथी अच्छे होते हैं। अपने आपको दमन करने वाला उससे भी अच्छा है।

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—हत्थाचरियपुब्बक भिक्खु]

३२३. न हि एतेहि यानेहि[1], गच्छेय्य अगतं दिसं।
यथात्तना[2] सुदन्तेन, दन्तो दन्तेन गच्छति ॥४॥

शब्दार्थ— यानेहि—सवारियों से। अगत दिस—न गयी हुई दिशा को अर्थात् निर्वाण को।

अनुवाद—इन सवारियों से (पहले कभी) न गयी हुई दिशा (निर्वाण) को (मनुष्य) नहीं जा सकता। दान्त (संयमी) मनुष्य अच्छी तरह दम से दमन किये गये अपने द्वारा (वहाँ) जा सकता है।

[स्थान—सावत्थी[3], व्यक्ति—परिजिण्णब्राह्मणपुत्त]

३२४. धनपालो[4] नाम कुञ्जरो, कटुकप्पभेदनो[5] दुन्निवारयो।
बद्धो कबलं न भुञ्जति, सुमरति नागवनस्स कुञ्जरो ॥५॥

शब्दार्थ— कटुकप्पभेदनो=तीक्ष्ण मदवाला। ए० के० नारायण तथा चन्द्रेशी लाल गुप्ता ने 'कटुक' को 'कटक' का पालिरूप मानकर 'सेना को तितर-बितर कर देने वाला' अर्थ किया है जो नितान्त असंगत है। टीकाकार बुद्धघोष ने 'तिखिणमदो' ही अर्थ किया है। संस्कृत में प्रभेद या प्रभेदन का

१, २. इण्डिया आफिस पुस्तकालय की पाण्डुलिपि में क्रमशः 'यानेहि, यथ' 'त्तान" पाठ है, मैक्समूलर "यथ' अत्तना" पाठ मानते हैं (द० मैक्समूलर-संस्करण की पाद टिप्पणी)। ३ सा०—जेतवन। ४. सि०—धनपालको। ५ इ०—कटुकभेदना।

अर्थ 'मदस्राव' होता है। नागवनस्स—हाथियो के जङ्गल की। सुमरति—याद करता है।

अनुवाद—तीक्ष्ण मदवाला, दुर्धर्ष धनपाल नामक हाथी बंध जाने पर घास नहीं खाता, हाथियों के जंगल की (ही) याद करता है।

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—पसेनदि (कोसलराजा)]

३२५. मिद्धी यदा होति महग्घसो च, निद्दायिता सम्परिवत्तसायी।
महावराहो' व निवापपुट्ठो, पुनप्पुनं गब्भमुपेति मन्दो ।६।

शब्दार्थ—मिद्धी—आलसी (fat—मैक्सम्यूलर)। महग्घसो—बहुत खाने वाला (सं० महाघस:)। निद्दायिता—निद्रालु। सम्परिवत्तसायी—करवट बदल-बदल कर सोने वाला। निवापपुट्ठो—खा-खा कर मोटा।

अनुवाद—जब (मनुष्य) आलसी, बहुत खाने वाला, निद्रालु, करवट बदल-बदल कर सोने वाला खा-खा कर बड़े सुअर के समान मोटा (हो जाता है) तब वह मूर्ख बार बार गर्भ (जन्म) को प्राप्त होता है।

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—सानु सामणेर]

३२६. इदं पुरे चित्तमचारि चारिकं, येनिच्छकं यत्थकामं यथासुखं।
तदज्जहं निग्गहेस्सामि योनिसो, हत्थिप्पभिन्नं विय अंकुसग्गहो ।७।

शब्दार्थ—पुरे—पहले। अचारि—विचरता था (सं० अचरत्)। चारिकं—चारिका अर्थात् चहलकदमी। येनिच्छकं—यथेच्छ। तदज्जहं—तद्+अज्ज (अद्य)+अहं—उसे आज मैं। योनिसो—भली प्रकार (योनि—जन्म स्थान)। हत्थिप्पभिन्नं—मदोन्मत्त हाथी को। अंकुसग्गहो—अंकुश ग्रहण करने वाला अर्थात् महावत।

अनुवाद—यह चित्त पहिले अपनी इच्छानुसार, कामनाओं के अनुसार (और) सुखों के अनुसार चहलकदमी करता रहा (अर्थात् विचरता रहा) मैं आज वहे (उसको) भली प्रकार वश में करूंगा जैसे महावत मदोन्मत्त हाथी को।

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—[illegible]]

३२७. अप्पमादरता होथ, सचित्तमनुरक्खथ।
दुग्गा उद्धरथत्तानं, पंके सन्नो' व कुञ्जरो ।८।

अनुवाद— अप्रमाद में रत हो जाओ, अपने चित्त की रक्षा करो (इस संसार रूपी) दुर्ग से अपना उसी तरह उद्धार करो जैसे कीचड़ में फँसा हुआ हाथी (अपना उद्धार करता है)।

[स्थान—पालिलेय्यक, व्यक्ति—सम्बहुलभिक्खु]

३२८. सचे लभेथ निपकं सहायं, सद्धिं चरं साधु साधुविहारिधीरं।
अभिभुय्य सब्बानि परिस्सयानि, चरेय्य तेनत्तमनो सतीमा ।९।

शब्दार्थ— निपक—परिपक्व बुद्धि वाला। सद्धिं—साथ (सं० सार्धम्)। अभिभुय्य—दूर कर। परिस्सयानि—आश्रयों को (सं० परिश्रयान्) मैक्समूलर Dangers अर्थ किया है। तेनत्तमनो—तेन—उसके साथ, अत्तमनो (आप्तमनो) विश्वस्तचित्त।

अनुवाद— यदि साथ चलने वाले, साधुता में विहार करने वाले धैर्यशाली और परिपक्व बुद्धि वाले सहायक को प्राप्त करे तो सभी (भय) आश्रयों को दूर कर वह स्मृतिमान् उसके साथ विश्वस्तचित्त हो विचरण करे।

विशेष— यही गाथा अपने अविकल रूप में सुत्तनिपात के तीसरे सुत्त खग्गविसाणसुत्त में ४५ वीं गाथा है।

३२९. नो चे लभेथ निपकं सहायं, सद्धिं चरं साधुविहारिधीरं।
राजा' व रट्ठं विजितं पहाय, एको चरे मातङ्गरञ्ञे' व नागो ।१०।

अनुवाद— यदि परिपक्व बुद्धि वाले, साथ चलने वाले, साधुता में विहार करने वाले, धैर्यशाली सहायक को प्राप्त न कर सके तो जीते गये राष्ट्र को छोड़कर राजा के समान (और) मातङ्गारण्य में हाथी के समान अकेला (ही) विचरण करे।

विशेष—यह गाथा सुत्तनिपात के तीसरे सुत्त 'खग्गविसाणसुत्त' की ४६ वीं गाथा है।

३३०. एकस्स चरितं सेय्यो, नत्थि बाले सहायता।
एको चरे न च पापानि कयिरा,
अप्पोस्सुक्को मातङ्गरञ्ञे' व नागो ।११।

अनुवाद— अकेले का विचरना श्रेष्ठ है। मूर्ख की सहायता (Compa-

nionship) अच्छी नहीं है। पाप कर्म न करे। अनुत्सुक होकर मातङ्ग रण्य में हाथी के समान अकेला विचरण करे।

[स्थान—अरञ्ञकुटिका (हिमवन्तप्पदेसे), व्यक्ति—मार]

३३१. अत्थम्हि जातम्हि सुखा सहाया, तुट्ठी सुखा या इतरीतरेन।
पुञ्ञं सुखं जीवितसंखयम्हि, सब्बस्स दुक्खस्स सुखं पहानं ।१२

शब्दार्थ— अत्थम्हि जातम्हि—अर्थ (काम) आ जाने पर। इतरीतरेन—अन्यान्य से अर्थात् जिस किसी भी वस्तु से। तुट्ठी—तुष्टि। जीवितसंखयम्हि—जीवित (जीवन) के क्षय होने पर। पहानं—विनाश।

अनुवाद— काम आ जाने पर सहायक (=मित्र) सुखकर होते हैं। जिस किसी भी वस्तु से जो तुष्टि होती है (वह भी) सुखदायिनी (होती है)। जीवन के क्षय होने पर पुण्य सुखद होता है (और) सभी दुःखों का विना सुखकारी होता है।

३३२. सुखा मत्तेय्यता लोके, अथो पेत्तेय्यता सुखा।
सुखा सामञ्ञता लोके, अथो ब्रह्मञ्ञता सुखा ॥१३॥

शब्दार्थ—मत्तेय्यता—माता की सेवा। पेत्तेय्यता—पिता की सेवा "मत्तेय्यताति मातरि सम्मापटिपत्ति, पेत्तेय्यताति पितरि सम्मापटिपत्ति"—बुद्धघोष। सामञ्ञता—सामान्यतया अर्थात् सभी प्राणियों के प्रति समभाव। "सामञ्ञताति सब्बजीवेसु सम्मापटिपत्ति"—बुद्धघोष। "ब्रह्मञ्ञता-ब्राह्मणत्व।

अनुवाद—संसार में माता की सेवा और पिता की सेवा सुखकारी है संसार में (सभी जीवों के प्रति) समभाव सुखकारी है, ब्राह्मण-भाव सु कारी है।

विशेष—डा० पी० एन० वैद्य द्वारा किया अनुवाद भी ऐसा ही है—

"Good is reverence for mother and father an good too, is the reverence for recluses (Samanas) an Brahmans (Sages).

किन्तु मैक्सम्यूलर ने इसका दूसरा ही अर्थ किया है—

"Pleasant in the world is the state of a mother

pleasant is the state of a father, pleasant the state of Samana, pleasant the state of a Brahmana."

३३३. सुखं याव जरा सीलं, सुखा सद्धा पतिट्ठिता।
सुखो पञ्ञाय पटिलाभो, पापानं अकरणं सुखं ॥१४॥

अनुवाद— वृद्धावस्था तक शील का पालन सुखकर है, स्थिर हुई श्रद्धा [illegible] है, प्रज्ञा का लाभ सुखकर है, पापों का न करना सुखकर है।

---

२४. तण्हावग्गो चतुवीसतमो

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—कपिलमच्छ]

३३४. मनुजस्स पमत्तचारिनो, तण्हा वड्ढति मालुवा विय।
सो प्लवति[1] हुरा हुरं, फलमिच्छं[1] व वनस्मि वानरो ॥१॥

शब्दार्थ— हुरा हुरं—दिन-प्रतिदिन मैक्समूलर ने from life to life किया है। मक्कारि शर्मा बड्डीय का मत है कि 'इतस्ततः' यह अर्थ-सङ्गत है।

अनुवाद—प्रमादयुक्त आचरण करने वाले मनुष्य की तृष्णा मालुवा लता समान बढ़ती है। वह हमेशा ही वन में फल की इच्छा करने वाले बन्दर समान दौड़ धूप करता रहता है।

३३५. यं एसा सहते[2] जम्मी, तण्हा लोके विसत्तिका।
सोका तस्स पवड्ढन्ति अभिवड्ढं[3] व बीरणं ॥२॥

शब्दार्थ—यं—जिसको। सहते—अभिभूत कर लेती है (सं० साहयति)। जम्मी—जालिम (fierce), बीरणं—एक प्रकार की सुगन्धित घास का नाम

अनुवाद— यह विषमयी जालिम तृष्णा संसार में जिसको अभिभूत कर लेती है उसके शोक (दुःख) अधिक बढ़ती हुई बीरण घास की तरह बढ़ते हैं।

---

१. स्या०—प्लवती, पू०—पलवति। २. स्या०—सहती।
३. सी०—अभिवट्ठं व।

३३६ यो चेत सहते जम्मि, तण्हं लोके दुरच्चयं।
सोका तम्हा पपतन्ति, उदबिन्दु' व पोक्खरा[1] ॥३॥

अनुवाद— और जो इस जाल्मि और दुस्त्याज्य तृष्णा को संसार में परास्त कर देता है उससे शोक उसी तरह गिर जाते हैं जैसे कमल से जल की बूंद।

३३७ तं वो वदामि भद्दं वो, यावन्तेत्थ समागता।
तण्हाय मूलं खणथ, उसीरत्थो' व वीरणं।
मा वो नल' व सोतो व, मारो भञ्जि पुनप्पुनं ॥४॥

शब्दार्थ — तं = इसलिए (सं० तत्)। वो = तुमसे। याव तेत्थ = जितने यहां। उसीरत्थो' व = उशीर (खस) को चाहने वाले की भांति। सोतो = जल प्रवाह। भञ्जि — तहस नहस कर दे।

अनुवाद—इसलिये तुमसे जितने यहां आये हो तुम्हारे कल्याण के लिये कहता हूं। जिस प्रकार उशीर चाहने वाला वीरण (की जड़) को खोद डालता है उसी प्रकार तृष्णा की जड़ खोद डालो। मार तुम्हें बार-बार उसी प्रकार तहस नहस न कर दे जैसे जल प्रवाह बेंत को।

[स्थान — वेणुवन ' व्यक्ति — गूथसूकरपोतिक]

३३८ यथापि मूले अनुपद्दवे दळ्हे, छिन्नोपि रुक्खो पुनरेव रूहति।
एवं' पि तण्हानुसये अनूहते, निब्बत्तती[2] दुक्खमिदं पुनप्पुनं ॥५॥

शब्दार्थ—तण्हानुसये — तृष्णा और क्रोध (अनुशय)[3]। मक्समूलर ने feeders of thirst (तृष्णा के सहायक) अर्थ किया है। अनूहते = नष्ट न किये जाने पर। निब्बत्तती = लौट आता है।

अनुवाद —जिस प्रकार दृढ़ और स्थिर जड़ होने पर कटा हुआ भी वृक्ष फिर से उग आता है उसी प्रकार तृष्णा और क्रोध नष्ट न किये जाने पर यह दुःख बार बार लौट आता है।

---

१ संस्कृत — पुष्करात्। २ ए० क० नारायण — जेतवन।
३ स्या०—निब्बत्तति।
४ 'अनुशय' का क्रोध के अर्थ में प्रयोग 'शिशुपालोऽनुशयं परं गतः' — (माघ, १६।२

विशेष.—'तृष्णा च अनुशयश्च' इति तृष्णानुशयम्' तस्मिन्। समाहार द्व समास है। सूत्र—"जातिरप्राणीनाम्," २।४।६

३३९. यस्स छत्तिंसति सोता, मनापसवना[1] भुसा।
वाहा[2] वहन्ति दुद्दिट्ठिं, सङ्कप्पा रागनिस्सिता ॥६॥

शब्दार्थ :—छत्तिंसति = छत्तीस। ज्ञान प्राप्ति के छत्तीस स्रोत हैं, जिनमें ६ आन्तरिक वस्तु, सोत्त, घान, जिव्हा, काय और मन तथा ६ बाह्य हैं—रूप, सद्द, गन्ध, रस फोट्ठब्ब और धम्म। ये सभी काम भव और विभव के भेद से ६+६=१२×३=३६ होते हैं। मनापसवना—मन चाहे पदार्थों में प्रवृत्त होते हैं। "मनापेसु रूपादिसु सवन्ति पवत्तन्ति —बुद्धघोष। भुसा= प्रयत्न (सं० भृशम्)। वाहा = प्रवाह। रागनिस्सिता = राग से निकले हुए।

अनुवादः—जिसके छत्तीसों स्रोत मन चाहे पदार्थों में अत्यन्त प्रवृत्त होते राग से निकले हुए सकल्प (उस) बुरी दृष्टि वाले को प्रवाह के समान बहा जाते हैं।

३४०. सवन्ति सब्बधि सोता, लता उब्भिज्ज तिट्ठति।
तं च दिस्वा लतं जातं, मूलं पञ्ञाय छिन्दथ ॥७॥

शब्दार्थः—सवन्ति = बहते हैं। सब्बधि = सभी ओर। उब्भिज्ज = फूटकर।

अनुवाद —(उपर्युक्त छत्तीसों) स्रोत सभी ओर बहते हैं (इस प्रकार इन स्रोतों की) लता फूट-फूटकर खड़ी हो जाती है। लताओं के उग आने को देखकर प्रज्ञा से (उसकी) जड़ काट डालिये।

३४१. सरितानि[3] सिनेहितानि च, सोमनस्सानि भवन्ति जन्तुनो।
ते सातसिता[4] सुखेसिनो, ते वे जाति जरूपगा नरा ॥८॥

अनुवादः—(उपर्युक्त छत्तीसों) नदियां स्निग्ध होती हैं और प्राणियों के

---

१ ब०—मनापसवना। २. ब०—सरा। ३. डा० पी०एल० वैद्य इसका [illegible] 'स्मृतानि' (memories) बताते हैं मैक्समूलर ने Pleasures किया है। पूर्वापर के प्रसङ्ग से देखने पर इसका अर्थ '३६ स्रोत' भी सम्भव है। ४. सोत सुखाः (सं०)।

चित्त को प्रसन्न करने वाली होती है। जो (इन) नदियो के प्रवाह मे पड़ इ
सुख की खोज करने वाले हैं वे मनुष्य जन्म और जरा को प्राप्त होते हैं।

३४२. तसिणाय पुरक्खता पजा, परिसप्पन्ति ससो[1] व बन्धितो
संयोजनसंसत्तका[1], दुक्खमुपेन्ति पुनप्पुन चिराय ॥९॥

अनुवाद—तृष्णा को आगे कर चलने वाले लोग बंधे हुये खरगोश की
तरह इधर-उधर दौडते हैं। बन्धनो मे फँसे हुये (लोग) बार-बार चिरका
तक दुःख को प्राप्त होते हैं।

३४३. तसिणाय पुरक्खता पजा, परिसप्पन्ति ससो, व बन्धितो
तस्मा तसिणं विनोदये,[2] आकड्खी[3] विरागमत्तनो ॥१०॥

अनुवाद—तृष्णा को आगे कर चलने वाले बंधे हुये खरगोश की तर
इधर-उधर दौडते हैं। इसलिये अपने वैराग्य की आकाङ्क्षा करने वाला तृष
को दूर करे।

[स्थान—वेणुवन व्यक्ति—विभन्तक भिक्खु]

३४४ यो निब्बनथो वनाधिमुत्तो, वनमुत्तो वनमेव धावति।
तं पुग्गलमेव पस्सथ, मुत्तो बन्धनमेव धावति ॥१२॥

शब्दार्थ—निब्बनथो = (स निवनत) वासनाओं के वन से। वनाधिमुत्तो
वने + अधिमुक्त। तं पुग्गलमेव = उस पुद्गल को ही। यह गाथा एक भिक्षु
लक्ष्य करके कही गयी है जो गृहमुक्त हो कर भी पुनः गृहस्थ हो गया था। स
उस भिक्षु का नाम ही 'पुग्गल' रहा होगा, ऐसी पूरी सम्भावना है। वै
अभिधानप्पदीपिका मे 'पाणो सरीरि भूत वा सत्तो देही च पुग्गलो, जी
पाणि पजा जन्तु जनो लोको तथागतो' कहा गया है। इसी आधार पर मैक्स
म्यूलर आदि विद्वानो ने 'पुग्गल' का अनुवाद 'मनुष्य' किया है।

---

१. ना०—ससो वसन्नसत्तका।
२. सि० पाठ मे 'भिक्खू' पाठ अधिक है जिसे श्री ए० के० नारायण
भी स्वीकार किया है।
३. ना०—आकङ्खत, स्या० आकङ्खं।

[स्थान—वेणुवन, व्यक्ति—उग्गसेन सेट्ठि]

३४८. मुञ्च पुरे मुञ्च पच्छतो, मज्झे मुञ्च भवस्स पारगू।
सब्बत्थ विमुत्तमानसो, न पुनं जातिजरं उपहेसि ॥१५॥

अनुवाद —पहले (भूत) को छोड दो, पीछे (भविष्य) को छोड दो, मध्य (वर्तमान) को छोड दो, भव (ससार) से पार हो जाओ। सभी जगह विमुक्त-चित्त वाले तुम फिर जन्म और जरा को प्राप्त न होगे।

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—चुल्ल धनुग्गह पण्डित[1]]

३४९. वितक्कमथितस्स[2] जन्तुनो, तिब्बरागस्य सुभानुपास्सिनो।
भिय्यो तण्हा पवड्ढति, एस खो दल्हं करोति बन्धनं ॥१६॥

अनुवाद :—वितर्क (सन्देह) से प्रमथित (झझोडे हुये), तीव्र (उत्कट) राग वाले (और) सुन्दर ही सुन्दर देखने वाले प्राणी की तृष्णा और भी बढती है। ऐसा व्यक्ति (अपने) बन्धन को निश्चय ही दृढ बनाता है।

३५०. वितक्कूपसमे च यो रतो, असुभं भावयते[3] सदा सतो।
एस खो ब्यन्ति[4] काहिति, एस[5] छेच्छति मारबन्धनं ॥१७॥

शब्दार्थ —ब्यन्ति = नष्ट। काहिति = करेगा (स० करिष्यति)। छेच्छति = काटेगा (स० छेत्स्यति)।

अनुवाद — और जो वितर्क (सशय) के उपशमक मे रत हैं (तथा) सदा स्मृतिवान् (सचेत) रहकर अशुभ (ससार) की भावना (शुभाशुभ का निश्चय) करता है, वह मार के बन्धन को काटेगा और नष्ट कर देगा।

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—मार]

३५१. निट्ठङ्गतो असन्तासी, वीततण्हो अनङ्गणो।
अच्छिन्दि भवसल्लानि, अन्तिमोय समुस्सयो ॥१८॥

शब्दार्थ :—निट्ठङ्गतो = निष्ठा को प्राप्त, असन्तासी = भय—रहित (स० असन्त्रासी)। अच्छिन्दि = काट दिया।

---

१. स०—दहरभिक्खु। २ चौ०, सा०—वितक्कपमथितस्स।
३ सा०—भावयति। ४ स्या०—ब्यन्तिकाहिति, सा०—ब्यन्तिकाहिनो। ५. सा०—एसच्छेच्छति।

अनुवाद —जो निष्ठा को प्राप्त, भय-रहित, तृष्णाशून्य (और) निरञ्जन (है उसने) संसार के शल्यों को काट दिया, यह (उसका) अन्तिम शरीर है।

३५२. वीततण्हो अनादानो, निरुत्तिपदकोविदो।
अक्खरानं सन्निपातं, जञ्ञा पुब्बापरानि च।
स वे अन्तिमसारीरो, महापञ्ञो महापुरिसो,ति वुच्चति ॥१९॥

शब्दार्थ :—अनादानो = परिग्रहरहित। निरुत्तिपदकोविदो = निर्वचन और पद (भाषा) का पण्डित। ए० के० नारायण ने 'भाषा और काव्य का जानकार', कन्हैयालाल गुप्त ने 'पदों की निरुक्ति करने में चतुर' और मैक्समूलर ने 'Who understands the words and their interpretation' अर्थ किया है। जञ्ञा = जानता है।

अनुवाद—(जो) तृष्णा से शून्य, परिग्रह रहित, (शब्दों के) निर्वचन (और) भाषा का पण्डित है तथा अक्षरों के पौर्वापर्य सन्निपात को जानता है वह निश्चय ही अन्तिम शरीर वाला, महाप्राज्ञ और महापुरुष कहा जाता है।

[स्थान—अन्तरामार्ग[1], व्यक्ति—उपक आजीविक]

३५३. सब्बाभिभू सब्बविदूहमस्मि, सब्बेसु धम्मेसु अनूपलित्तो।
सब्बञ्जहो तण्हक्खये विमुत्तो, सयं अभिञ्ञाय कमुद्दिसेय्यं ॥२०॥

शब्दार्थ :—सब्बविदूहमस्मि = सर्वविद् + अहम् + अस्मि। अनूपलित्तो = अनुपलिप्त। सब्बञ्जहो = सबको त्यागने वाला। सयं = स्वयं। कमुद्दिसेय्यं = किसे (अपने बारे में) बताऊं? ए० के० नारायण ने 'किसको (अपना गुरु) बतलाऊं?' और मैक्समूलर ने 'Who shall I teach?' अनुवाद किया है।

अनुवाद—(मैं) सबको अभिभूत करने वाला, सब कुछ जानने वाला, सभी धर्मों में अनुपलिप्त, सर्वस्व त्यागने वाला (और) तृष्णा के क्षय हो जाने पर विमुक्त हूं—(ऐसा) स्वयं को जानकर किसे (अपने उक्त गुणों के बारे में) बताऊं?

---

१. वाराणसी से गया के मध्य का मार्ग।

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—सक्कदेवराज]

३५४. सब्बदानं धम्मदानं जिनाति, सब्बरसं[1] धम्मरसो जिनाति ।
सब्बरतिं धम्मरति[2] जिनाति, तण्हक्खयो सब्बदुक्खं जिनाति ॥२१॥

अनुवाद :—धर्म का दान सब दानो को जीत लेता है । धर्म का रस सब रसो को जीत लेता है । धर्म की अनुरक्ति सभी रागो को जीत लेती है । तृष्णा का क्षय सब दु खो को जीत लेता है ।

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—अपुत्तक सेट्ठी]

३५५. हनन्ति भोगा दुम्मेधं, नो चे पारगवेसिनो ।
भोगतण्हाय दुम्मेधो, हन्ति अञ्ञे व अत्तनं ॥२२॥

शब्दार्थ :—अञ्ञेव = दूसरे की तरह (सं० अन्यमिव) ।

अनुवाद :—यदि ससार से पार जाने की इच्छा नहीं करता तो (उस) दुर्बुद्धि को भोग नष्ट कर देते हैं । भोगो की तृष्णा से दुर्बुद्धि अपने को दूसरे की तरह मार लेता है ।

[स्थान—पण्डुकम्बलसिला (देवलोक), व्यक्ति—अकुर]

३५६. तिणदोसानि खेत्तानि, रागदोसा अयं पजा ।
तस्मा हि वीतरागेसु, दिन्नं होति महप्फलं ॥२३॥

अनुवाद :—खेतो का दोष तृण (घास) है, इस प्रजा का दोष राग है । इसलिये वीतराग (भिक्षुओ) को दिया हुआ दान महान् फल वाला होता है ।

३५७. तिणदोसानि खेत्तानि, दोसदोसा अयं पजा ।
तस्मा हि वीतदोसेसु, दिन्नं होति महप्फलं ॥२४॥

अनुवाद :—खेतो का दोष घास है, इस प्रजा का दोष द्वेष है । इसलिये द्वेष रहित (भिक्षुओ) को दिया हुआ दान महान् फल वाला होता है ।

३५८. तिणदोसानि खेत्तानि, मोहदोसा अयं पजा ।
तस्मा हि वीतमोहेसु, दिन्नं होति महप्फलं ॥२५॥

---

१. सि०—सब्ब रस । २. सि०—धम्मरती ।

अनुवाद:—मेतो का दोष घास है, इस प्रजा का दोष मोह है। इसलिये मोह रहित (भिक्षुओं) को दिया हुआ दान महान् फल वाला होता है।

३५६. तिणदोसानि खेत्तानि, इच्छादोसा अयं पजा।

तस्मा हि विगतिच्छेसु, दिन्नं होति महप्फलं ॥२६॥

अनुवाद :—मेतो का दोष घास है, इस प्रजा का दोष इच्छा है। इसलिये इच्छा-रहित (निराकांक्षी भिक्षुओं) को दिया हुआ दान महान् फल वाला होता है।

विशेष—उपर्युक्त चार गाथाओं में दान के पात्र-अपात्र का स्थूल विवेचन किया गया है। राग, द्वेष, मोह और इच्छा—इन चार दोषों से युक्त व्यक्ति (अथवा भिक्षु) को दान देने से अत्यल्प या बिल्कुल भी नहीं फल मिलता है। नालन्दा संस्करण में इस गाथा के अनन्तर निम्नोद्धृत गाथा दी गयी है जिस पर गाथा की संख्या (३६०) नहीं दी गयी—

"तिणदोसानि खेत्तानि, तण्हादोसा अयं पजा।
तस्मा हि वीततण्हेसु, दिन्नं होति महप्फलं ॥"

किन्तु यह गाथा किसी अन्य संस्करण में उपलब्ध नहीं है। नालन्दा संस्करण में भी "अयं गाथा अट्ठकथाय न दिस्सति" यह टिप्पणी दी गयी है। मैक्समूलर ने भी इसका कोई अनुवाद नहीं किया, अतः ज्ञात होता है कि उनके सामने भी यह गाथा न रही होगी।

---

२५. भिक्खुवग्गो पंचवीसतिमो

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—पञ्च भिक्षु]

३६०. चक्खुना संवरो साधु, साधु सोतेन संवरो।
घानेन[1] संवरो साधु, साधु जिव्हाय संवरो ॥१॥

अनुवाद— नेत्र के द्वारा संयम अच्छा है। कानों के द्वारा संयम ठीक है। नाक के द्वारा संयम साधु है। जीभ के द्वारा संयम उत्तम है।

---

१ सा०—घाणेन।

३६१ कायेन संवरो साधु, साधु वाचाय संवरो।
मनसा संवरो साधु, साधु सब्बत्थ संवरो ॥२॥

अनुवाद— शरीर के द्वारा संयम (करना) अच्छा है। वाणी के द्वारा संयम अच्छा है। मन के द्वारा संयम (करना) उत्तम है। सभी जगह संयम (करना) अच्छा होता है।

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—हंसघातक]

३६२. हत्थसंयतो[1] पादसंयतो[1] वाचाय संयतो[1] संयतुत्तमो।
अज्झत्तरतो समाहितो एको, सन्तुसितो तमाहु भिक्खुं ॥३॥

शब्दार्थ— हत्थसंयतो = हाथों से संयत संयतुत्तमो = भली भांति संयत। अज्झत्तरतो = अध्यात्म रत। सन्तुसितो = सन्तुष्ट।

अनुवाद— (जो) हाथों से संयत, पैरों से संयत, वाणी से संयत—भली-भांति संयत है (और) अध्यात्म में अनुरक्त, एकाग्र एकाकी (एवं) सन्तुष्ट (है) उसे भिक्षु कहा जाता है।

[स्थान—जेतवन व्यक्ति—कोकालिक]

३६३. यो मुखसंयतो भिक्खु, मन्तभाणी अनुद्धतो।
अत्थं धम्मं च दीपेति, मधुरं तस्स भासितं ॥४॥

शब्दार्थ— मन्तभाणी = मनन करके बोलने वाला। बुद्धघोष ने 'प्रज्ञा के साथ बोलने वाला' (मन्तभाणीति मन्ता वुच्चति पञ्ञा, ताय भणनसीलो) अर्थ किया है। मैक्सम्यूलर भी 'Who speaks wisely' अनुवाद करते हैं।

अनुवाद— जो भिक्षु मुख से संयत है, मनन करके बोलने वाला है, अनुद्धत है, धर्म और अर्थ को प्रकट करता है, उसका भाषण मधुर होता है।

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—धम्माराम थेर]

३६४. धम्मारामो धम्मरतो, धम्मं अनुविचिन्तयं।
धम्मं अनुस्सरं भिक्खु, सद्धम्मा न परिहायति ॥५॥

अनुवाद—धर्म में रमण करने वाला, धर्म में रत भिक्षु धर्म का चिन्तन (तथा) धर्म का अनुसरण करता हुआ सद्धर्म से च्युत नहीं होता।

---

१. सि०—सञ्ञतो।

[स्थान—वेणुवन, व्यक्ति—विपक्ष सेवक]

३६५. सलाभं नातिमञ्ञेय्य, नाञ्ञेसं पिहयं चरे।
अञ्ञेसं पिहयं भिक्खु, समाधिं नाधिगच्छति ॥६॥

शब्दार्थ :—सलाभं = अपना लाभ। न अञ्ञेसं = दूसरों से साथ (सं० न अन्येभ्य)। पिहय = स्पृहा करता हुआ।

अनुवाद :—अपने लाभ की अवहेलना न करे। दूसरों से स्पृहा (ईर्ष्या) करता हुआ विचरण न करे। दूसरों से स्पृहा करता हुआ भिक्षु समाधि को प्राप्त नहीं होता।

३६६. अप्पलाभो' पि चे भिक्खु, सलाभं नातिमञ्ञति।
तं वे देवा पसंसन्ति, सुद्धाजीविं अतन्दितं ॥७॥

अनुवाद :—यदि थोड़ा लाभ भी हो तो (भी) भिक्षु अपने लाभ की अवहेलना नहीं करता। शुद्ध जीवन वाले, निरालस्य उस (भिक्षु) की देवता प्रशंसा करते हैं।

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—पञ्चग्गदायक ब्राह्मण[1]]

३६७. सब्बसो नामरूपस्मिं, यस्स नत्थि ममायितं।
असता च न सोचति, स वे भिक्खू' ति वुच्चति ॥८॥

शब्दार्थ :—ममायितं = ममता। असता = न होने पर (सं० असति)।

अनुवाद :—नाम और रूप (अर्थात् संसार) में जिसकी ममता नहीं है और जो (किसी वस्तु के) न होने पर शोक नहीं करता, वह निश्चय भिक्षु कहा जाता है।

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—सम्बहुलभिक्खु]

३६८. मेत्ताविहारी यो भिक्खु, पसन्नो बुद्धसासने।
अधिगच्छे पदं सन्तं, संखारूपसमं सुखं ॥९॥

शब्दार्थ :—मेत्ताविहारी = मित्रतापूर्वक विहार करने वाला (सं० मैत्री-विहारी[2])। सन्तं = शान्त। संखारूपसमं = संस्कारों को शमन करने वाले।

१. ए० के० नारायण ने व्यक्ति बहुत से भिक्षु लिखा है।
२. बौद्ध धर्म में चार प्रकार के 'ब्रह्म विहार' बताये गये हैं—मैत्राविहार, करुणा विहार, मुदिता विहार और उपेक्षा विहार।

अनुवाद :—जो भिक्षु मित्रतापूर्वक विहार करने वाला और बुद्ध के शासन में प्रसन्न रहने वाला है, वह संस्कारों को शमन करने वाले शान्त और सुखद पद को प्राप्त करता है।

३६६. सिञ्च भिक्खु ! इमं नावं, सित्ता ते लहुमेस्सति ।
छेत्वा रागञ्च दोसञ्च, ततो निब्बानमेहिसि ॥१०॥

शब्दार्थ :—सिञ्च = सींचो अर्थात् खाली कर दो। सित्ता = खाली हो जाने पर। लहुमेस्सति = हल्की हो जायेगी (सं० लघुत्वमेष्यति)।

अनुवाद :—हे भिक्षु ! इस (शरीर रूपी) नाव को खाली कर दो (अर्थात् गन्दगियों को दूर कर दो), खाली होने पर तुम्हारे लिये हल्की हो जायेगी। तब राग और द्वेष को काटकर निर्वाण को प्राप्त होगे।

३७०. पञ्च छिन्दे पञ्च जहे, पञ्च चुत्तरि भावये ।
पञ्चसङ्गातिगो भिक्खु, ओघतिण्णो' ति वुच्चति ॥११॥

शब्दार्थ :— पञ्च छिन्दे = (प्रथम) पांच (संयोजनों—सक्कायदिट्ठि, विचिकिच्छा, सीलब्बतपरामासो, कामरागो, पटिघो) को काट दे। पञ्च जहे = (दूसरे) पांच (संयोजनों[1]—रूपराग, अरूपराग, मान, उद्धच्च, अविज्जा) को छोड़ दे। पञ्च चुत्तरि भावये = बाद में पांच (इन्द्रियों—सद्धा, सति, विरिय, समाधि, पञ्ञा) की भावना करे। पञ्चसङ्गातिगो = पांच (नीवरणों—रूप, वेदना, सञ्ञा, सङ्खार, विञ्ञाण) के सम्पर्क से पृथक् रहने वाला। ओघतिण्णो = ओघ (काम, भव, दिट्ठि और अविज्जा रूपी नदियों की बाढ़) को पार करने वाला।

अनुवाद :—पांच को काट दे, पांच को छोड़ दे; बाद में पांच की भावना करे। पांच के सम्पर्क से पृथक् रहने वाला भिक्षु ओघतीर्ण कहा जाता है।

३७१. झाय भिक्खु मा[2] पमादो, मा ते कामगुणे रमेस्सु[3] चित्तं ।
मा लोहगुळं गिली पमत्तो, मा कन्दि दुक्खमिदं, ति डय्हमानो[4] ॥१२॥

१. इन्हें 'उद्धभागियानि संयोजनानि' कहते हैं।

२. सिं०—मा च पमादो। ३. सिं०—भमस्सु। ४. रो०—दय्हमानो।

शब्दार्थ—रमेस्सु = रमण करे (स० रमस्व)। लोहगुल = लोहे के गोले को। गिली = निगलो (स० गिल)। कन्दि = क्रन्दन करो (स० क्रन्दी)

अनुवाद—हे भिक्षु ! ध्यान करो, प्रमाद नहीं। तुम्हारा चित्त कामगुण में रमण न करे। प्रमत्त (होकर) लोहे का गोला मत निगलो। (ससार की अग्नि से) जलते हुए 'यह दुःख है' इस प्रकार क्रन्दन मत करो।

विशेष—प्राचीन काल में 'लोहे का सन्तप्त गोला' निगलवाना एक भयकर दण्ड था। सत्य की परीक्षा में भी यह प्रयोग में लाया जाता था। धर्मशास्त्रीय विधान के अनुसार दुष्कर्म करने वाला या दुराचारी, असयत व्यक्ति जो राष्ट्र का अन्न खाता है, उस नरक में लोहे का तपा हुआ गोला निगलना पड़ता है, देखिये गाथा ३०८।

३७२. नत्थि झानं अपञ्ञस्स, पञ्ञा नत्थि अझायतो।
यम्हि झानञ्च पञ्ञा च, स वे निब्बानसन्तिके ॥१३॥

अनुवाद—प्रज्ञाविहीन का ध्यान नहीं होता। ध्यान न करने वाले की प्रज्ञा नहीं होती जिसमें ध्यान और प्रज्ञा है वह निश्चय ही निर्वाण के समीप है।

३७३. सुञ्ञागारं पविट्ठस्स, सन्तचित्तस्स भिक्खुनो।
अमानुसी रती होति, सम्मा धम्मं विपस्सतो ॥१४॥

अनुवाद—शून्यागार (एकान्तवास) में प्रविष्ट, शान्तचित्त (एव) सम्यक् धर्म को देखते हुये भिक्षु की रति (आनन्द) अमानवीय (लोकोत्तर) होती है।

३७४. यतो यतो सम्मसति, खन्धानं उदयब्बयं।
लभति पीतिपामोज्जं, अमतं तं विजानतं ॥१५॥

शब्दार्थ—सम्मसति = विचार करता है (स० सम्मृशति)। पीतिपामोज्जं = प्रीति और प्रमोद। विजानतं = ज्ञानियों के।

अनुवाद—(मनुष्य) जैसे-जैसे सस्कारों की उत्पत्ति और विनाश पर विचार करता है, वैसे-वैसे (वह) ज्ञानियों की प्रीति और प्रमोद से युक्त अमृत-मय आनन्द को प्राप्त करता है।

३७५. तत्रायमादि भवति, इध पञ्ञस्स भिक्खुनो।
इन्द्रियगुत्ति सन्तुट्ठि, पातिमोक्खे च संवरो ॥१६॥

अनुवाद —यहा इस धर्म मे प्राज्ञ भिक्षु का आरम्भ होता है—इन्द्रियों की रक्षा (सयम), सन्तुष्टि और प्रतिमोक्ष (नियमों) मे सयम।

३७६. मित्ते भजस्सु कल्याणे, सुद्धाजीवे अतन्दिते। [1]
पटिसंथारवुत्तस्स, आचारकुसलो सिया।
ततो पामोज्जबहुलो, दुक्खस्सन्तं करिस्सति ॥१७॥

शब्दार्थः—पटिसथारवुत्तस्स—(पटिसंथारवुत्ति+अस्स) सेवा-सत्कार की वृत्तिवाला हो (स० प्रतिसंस्तारवृत: स्यात्)। मैक्सम्यूलर ने 'Let him live in charity' अनुवाद किया है। श्री बटुकनाथ शर्मा ने 'पटिसन्थारो' का पर्याय 'आलाप', सम्भाषणम्' दिया है[2]।

अनुवाद —शुद्ध जीवन वाले, आलस्य-विहीन और कल्याण करने वाले मित्रों की संगति कर। सेवा-सत्कार की वृत्तिवाला हो, आचार मे कुशल बन, बहुत आनन्द वाला होकर दुःख का नाश कर देगा।

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—पञ्चसतभिक्खु]

३७७. वस्सिका विय पुप्फानि, मद्दवानि पमुञ्चति।
एवं रागञ्च दोसञ्च, विप्पमुञ्चेथ भिक्खवो ॥१८॥

शब्दार्थ— वस्सिका=जूही (स० वर्षिका)। मद्दवानि=कुम्हिलाये हुये (स० मार्दवानि)।

अनुवाद— जिस प्रकार जूही कुम्हिलाये हुये फूलों को गिरा देती है वैसे ही हे भिक्षुओ! राग और द्वेष को छोड दो।

---

१ गाथा की इस पूरी पंक्ति को फ०बोल और मैक्सम्यूलर ने ३७५ वीं गाथा के साथ जोड दिया है। ए० के० नारायण और पी० एल० वैद्य ने भी उन्हीं का अनुसरण किया है। पर, सत्कारि शर्मा वगीय के मतानुसार यह पाठक्रम सिंहल और ब्रह्मदेशीय परम्परा के विरुद्ध है।

२. पलिजातकावली, पृ० १७४।

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—सन्तकाय थेर]

३७८. सन्तकायो सन्तवाचो, सन्तवा[1] सुसमाहितो ।
वन्तलोकामिसो भिक्खु, उपसन्तो' ति वुच्चति ॥१९॥

शब्दार्थ—सन्तवा = शान्तिवान् । वन्तलोकामिसो = लोक (संसार) की भोग्य वस्तुओं को त्याग देने वाला । 'अमिष भोग्यवस्तूनि' इति केशवः ।

अनुवाद— शान्त शरीर वाला शान्त वाणी वाला शान्तिवान्, भली-भांति एकाग्र और संसार की भोग्य वस्तुओं को त्याग देने वाला भिक्षु 'उपशान्त' कहा जाता है ।

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—नङ्गलकुल थेर[2]]

३७९. अत्तना चोदयत्तानं, पटिवासे[3] अत्तमत्तना ।
सो अत्तगुत्तो सतिमा, सुखं भिक्खु विहाहिसि ॥२०॥

शब्दार्थ— चोदयत्तानं = अपने को प्रेरित करे । पटिवासे = संलग्न करे (सं० प्रतिवसेत्) । "अत्तना व अत्तान परिवीमंसे"—पाठभेद । 'Examine thyself by thyself'—मैक्समूलर । विहाहिसि = विहरोगे ।

अनुवाद— अपने द्वारा अपने को प्रेरित करे । अपने द्वारा अपने को संलग्न करे । वह अपने द्वारा सुरक्षित, स्मृतिमान् भिक्षु ! सुखपूर्वक विहरोगे ।

३८० अत्ता हि अत्तनो नाथो, अत्ता हि अत्तनो गति ।
तस्मा संयमयत्तानं, अस्सं भद्रं' व वाणिजो ॥२१॥

अनुवाद— (मनुष्य) अपना स्वामी आप है, स्वयं ही अपनी शरण है । इसलिये अपने को संयत रखे जैसे व्यापारी अपने उत्तम घोड़े को (संयत रखता है) ।

विशेष—यही भाव प्रकारान्तर से गाथा १६० में भी दर्शित होता है ।

[स्थान—जेतवन[4], व्यक्ति—वक्कलि थेर]

३८१. पामोज्जबहुलो भिक्खु, पसन्नो बुद्धसासने ।
अधिगच्छे पदं सन्तं, संखारूपसमं सुखं ॥२२॥

अनुवाद—बहुत प्रमोद को पाने वाला (और) बुद्ध के शासन में प्रसन्न रहने वाला भिक्षु संस्कारों का उपशमन करने वाले, सुखकर, शान्त पद को प्राप्त होता है ।

---

१. स० स्या—सन्तमनो । २. ना०—नङ्गलकुल थेर । ३. क—पटिमंसे अत्तना ।
४. स०—वेणुवन । ए० के० नारायण—राजगृह (वेणुवन) ।

[स्थान—पुब्बाराम (सावत्थी), व्यक्ति—सुमन सामणेर]

३८२ यो हवे दहरो भिक्खु, युञ्जति बुद्धसासने ।
सो इमं लोकं पभासेति, अब्भा मुत्तोव चन्दिमा ।२३॥

शब्दार्थ— दहरो=युवा 'दहरो च युवा सुसु' इत्यभिधानप्पदीपिका ।

अनुवाद—जो युवा भिक्षु भी बुद्ध के शासन मे (अपने) को लगा देता है वह इस ससार को बादलो से मुक्त हुये चन्द्रमा के समान प्रकाशित करता है ।

---

२६. ब्राह्मणवग्गो छब्बीसतिमो

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—पसादबहुल ब्राह्मण]

३८३. छिन्द सोत परक्कम्म, कामे पनुद ब्राह्मण ।
संखारानं खय ञत्वा, अकतञ्ञू सि ब्राह्मण ॥१॥

शब्दार्थ :—पनुद=भगा दो । अकतञ्ञू, सि=अकृत (निर्वाण) को जानने वाले हो ।

अनुवाद—हे ब्राह्मण ! पराक्रम करके (तृष्णा) के स्रोत को छिन्न भिन्न कर दो कामों को भगा दो । सस्कारो के क्षय को जानकर हे ब्राह्मण ! (तुम) निर्वाण को जानने वाले हो ।

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—सम्बहुलभिक्खु]

३८४. यदा द्वयेस धम्मेसु, पारगू होति ब्राह्मणो ।
अथस्स सब्बे संयोगा, अत्थं गच्छन्ति जानतो ॥२॥

अनुवाद—जब ब्राह्मण दोनों धर्मों (समथ और विपस्सना) मे पारङ्गत जाता है तब (उस) ज्ञानी के सभी सयोजन (बन्धन) नष्ट हो जाते हैं ।

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—मार]

३८५. यस्स पारं अपारं वा, पारपारं न विज्जति ।
वीतद्दरं विसंयुत्तं, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥३॥

शब्दार्थ —पारं=भीतर के ६ आयतन (आंख, कान, नाक, जीभ, काया, मन) अपार=बाहर के ६ आयतन (रूप, शब्द, गन्ध, रस, स्पर्श, धर्म)। पारापार=मैं और मेरा । "'पार' ति अज्झत्तिकानि ६ आयतनानि, 'अपारं' ति बहिरानि ६ आयतननानि, तदुभय न विज्जतीति सब्ब पेतं 'अहं' ति 'मम' ति वा गहणाभावेन नत्थि"—बुद्धघोष ।

अनुवाद—जिसके लिये पार, अपार (तथा) पारापार नहीं है, उस निडर, अनासक्त को मैं ब्राह्मण कहता हूं ।

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—अज्ञातर ब्राह्मण]

३८६. झायिं विरजमासीनं, कतकिच्चमनासवं ।
उत्तमत्थमनुप्पत्तं, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥४॥

शब्दार्थ — विरजं—रज (मल) रहित । आसीन=स्थिर । कतकिच्च=कृतकृत्य । उत्तमत्थमनुप्पत्तं=उत्तम अर्थ (सत्य) को प्राप्त हुआ ।

अनुवाद :—ध्यानी, मलरहित स्थिर, कृतकृत्य, चित्त के मैलों से शून्य, उत्तम अर्थ (सत्य) को प्राप्त हुये उस (व्यक्ति) को मैं ब्राह्मण कहता हूं ।

[स्थान—मिगार मातु पासाद[1], व्यक्ति—आनन्द थेर]

३८७. दिवा तपति आदिच्चो, रत्तिमाभाति चन्दिमा ।
सन्नद्धो खत्तियो तपति, झायी तपति ब्राह्मणो ।
अथ सब्बमहोरत्तिं, बुद्धो तपति तेजसा ॥५॥

शब्दार्थ—सब्बमहोरत्तिं—रात दिन हमेशा । बुद्धो तपति तेजसा—बुद्ध अपने (पञ्चविध) तेज से तपता है । "सम्मासम्बुद्धो पन चरण तेजेन दुस्सील-तेज, गुणतेजेन निग्गुणतेज, पञ्ञातेजेन दुप्पञ्ञतेजं, पुञ्ञतेजेन, अपुञ्ञतेज,

१. ए० के० नारायण—'श्रावस्ती (पूर्वाराम)' लिखते हैं ।

धम्मतेजेन अधम्मतेज परियादियित्वा इमिना पञ्चविधेन तेजेन निच्चकालमेव विरोचति"—बुद्धघोष।

अनुवाद :—सूर्य दिन में तपता है, चन्द्रमा रात्रि में प्रकाशित होता है, सन्नद्ध (कवचबद्ध) क्षत्रिय तपता है, ध्यानी ब्राह्मण तपता है। इन सबसे बढ़ कर रात दिन हमेशा बुद्ध (अपने पञ्चविध) तेज से तपता है।

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—अञ्ञतर ब्राह्मण[1]]

३८८. बाहितपापोति ब्राह्मणो, समचरिया समणोति वुच्चति।
पब्बाजयमत्तनो मलं, तस्मा पब्बजितोति वुच्चति ॥६॥

शब्दार्थ :—समचरिया—समता का आचरण करने वाला (सं० समचर्यः)
पब्बाजयमत्तनो मलं—अपने मैल को हटाता हुआ।

अनुवाद—(जिसने) पाप बहा दिये हैं इसलिये वह ब्राह्मण है। समता का आचरण करने वाला 'श्रमण' कहा जाता है। अपने मैलों को हटाता है इसलिये 'प्रव्रजित' कहा जाता है।

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—सारिपुत्त थेर]

३८९. न ब्राह्मणस्स पहरेय्य, नास्स मुञ्चेथ ब्राह्मणो।
धी ब्राह्मणस्स हन्तार, ततो धी यस्स मुञ्चति ॥७॥

शब्दार्थ—पहरेय्य=प्रहार करे (सं० प्रहरेत्)। मुञ्चेथ=टूट पड़े (should let himself fly—मैक्सम्यूलर)। धी=धिक्कार है। यस्स=उस पर (सं० यस्मै)।

अनुवाद—ब्राह्मण पर प्रहार न करे, ब्राह्मण इस (प्रहारकर्ता) पर न टूट पड़े। ब्राह्मण के मारने वाले को धिक्कार है, तब उसके लिये धिक्कार है जो उस पर (मारने वाले पर) टूट पड़ता है।

३९०. न ब्राह्मणस्सेतदकिञ्चि सेय्यो,
यदा निसेधो मनसो पियेहि।
यतो यतो हिंसमनो निवत्तति,
ततो ततो सम्मतिमेव दुक्खं ॥८॥

---

1. ए० के० नारायण—'कोई प्रव्रजित' ऐसा लिखते हैं।

शब्दार्थ :—ब्राह्मणस्सेतदकिञ्चि सेय्यो = ब्राह्मण के लिये कम श्रेयस्कर। पियेहि = प्रिय वस्तुओं से। हिंसमनो = हिंसक मन। सम्मतिमेव = शान्त होना ही है।

अनुवाद—ब्राह्मण के लिये (यह) कम श्रेयस्कर नहीं है जो कि वह प्रिय पदार्थों से मन को निषेध कर देता है। जैसे — जैसे हिंसक मन निवृत्त होता है, वैसे वैसे मन दुःख शान्त होता ही है।

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—महापजापति गोतमी[1]]

३६१. यस्स कायेन वाचाय, मनसा नत्थि दुक्कतं[2] ।
संवुतं तीहि ठानेहि, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥९॥

अनुवाद :—जिसके शरीर, वाणी, मन से दुष्कृत (पाप) नहीं होते (और जो इन्हीं) तीन स्थानों में संयत है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूं।

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—सारिपुत्त थेर]

३६२. यम्हा धम्मं विजानेय्य, सम्मासम्बुद्धदेसितं ।
सक्कच्चं तं नमस्सेय्य, अग्गिहुत्तं' व ब्राह्मणो ॥१०॥

शब्दार्थ—सक्कच्च = सत्कार करके। नमस्सेय्य = नमस्कार करे। अग्गिहुत्त = अग्निहोत्र।

अनुवाद—जिससे सम्यक् सम्बुद्ध द्वारा उपदिष्ट धर्म को जाने (उसका) सत्कार कर उसे नमस्कार करे। जैसे ब्राह्मण अग्निहोत्र को (नमस्कार करता है)।

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—जटिल ब्राह्मण]

३६३. न जटाहि न गोत्तेन, न जच्चा होति ब्राह्मणो ।
यम्हि सच्चं च धम्मो च, सो सुची सो च ब्राह्मणो ॥११॥

अनुवाद—न जटाओं से, न गोत्र से (और) न जाति (जन्म) से (ही) कोई ब्राह्मण होता है। जिसमें सत्य है और धर्म है, वह सुची है और वही ब्राह्मण है।

---

१. सा०—गोमती। २. ना०—दुक्कट।

[स्थान—कूटागारसाला (वैशाली), व्यक्ति—वग्गुलिवत कुहक ब्राह्मण[1]]

३९४. किं ते जटाहि दुम्मेध, किं ते अजिनसाटिया ।
अब्भन्तरं ते गहनं, बाहिरं परिमज्जसि ॥१२॥

अनुवाद—अरे दुर्बुद्धि ! तेरी जटाओं से क्या ? तेरी मृगचर्म की धोती से क्या ? तेरा हृदय गहन है, बाहर क्या धोता है ?

[स्थान—गिज्झकूट, व्यक्ति—किसा गोतमी[2]]

३९५. पंसुकूलधरं जन्तुं, किसं धमनिसन्थतं ।
एकं वनस्मिं झायन्तं, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥१३॥

शब्दार्थ :—पंसुकूलधर = रज का ढेर धारण करने वाले । मैक्समूलर ने 'Who wears dirty raiments' (गन्दे वस्त्र धारण करने वाला) अर्थ किया है । किसं = कृश । धमनिसन्थत = धमनियों का जाल ।

अनुवाद—बहुत सी रज धारण करने वाले, कृश, (उभरी हुई) धमनियों के जाल वाले, वन में अकेले ध्यान करने वाले उस प्राणी को मैं ब्राह्मण कहता हूं ।

विशेष— मैक्समूलर की निम्न टिप्पणी चिन्तनीय है—

"It looks more like a Brahmanic than like a Buddhist phrase"

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—एक ब्राह्मण]

३९६. न चाहं ब्राह्मणं ब्रूमि, योनिजं मत्तिसम्भवं ।
भोवादी नाम सो होति, स चे होति सकिञ्चिनो ।
अकिञ्चनं अनादानं, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥१४॥

शब्दार्थ— मत्तिसम्भव—माता से उत्पन्न को । भोवादी—'अरे' कहने वाला । कनछेदी लाल गुप्त द्वारा किया गया "भो शब्द से सम्बोधन करने योग्य है" यह अर्थ एकदम असंगत है । ए० के० नारायण द्वारा किया गया

---

१. बगुला के समान पाखण्डी । कुहक = कौशिक (छिपा हुआ धन बताने वाला ।)   २. सा०—गोमती ।

अनुवाद "लोग (भले ही) उसे (सम्मानपूर्वक) भी कह कर पुकारें' तो मूल से सर्वथा विपरीत है। मैक्समूलर द्वारा किया गया अर्थ "He is indeed arrogant" (अहंकारी) मूल भाव के अति निकट मालूम पड़ता है। सकिञ्चनो—सग्रही।

अनुवाद— (ब्राह्मण) योनि में उत्पन्न वाले अथवा (ब्राह्मण) माता से उत्पन्न (व्यक्ति) को मैं ब्राह्मण नहीं कहता। वह (तो) अहंकारी होता है और सग्रही होता है। (जो) अकिञ्चन और लेने की इच्छा न करने वाला है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूं।

[स्थान—वेणुवन, व्यक्ति—उग्गसेन सेट्ठिपुत्त]

३९७. सब्बसयोजनं छेत्वा, यो वे न परितस्सति।
सङ्गातिगं विसंयुत्तं, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं॥१५॥

शब्दार्थ— परितस्सति—भयभीत होता है (स० परित्रस्यति)।

अनुवाद— सभी सयोजनों (बन्धनों) को काटकर जो भयभीत नहीं होता, जो) राग और आसक्ति से विरत है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूं।

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—द्वे ब्राह्मण]

३९८. छेत्वा नन्दिं वरत्तं च, सन्दानं[1] सहनुक्कमं।
उक्खित्तपलिघं बुद्धं, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं॥१६॥

शब्दार्थ— नन्दि—लौकिक सुखों को। 'नद्धि' पाठ होने पर नाथ[2] (ढेंप) अर्थ लेना होगा। वरत्त—रस्सी को (स० वरत्राम्) अर्थात् राग को। सन्दानं—बन्धन अर्थात् मोह को। सहनुक्कमं—जाल (मुछीरा) सहित। उक्खित्त पलिघ अर्गला (अविद्या) को फेंक दिया है जिसने।

अनुवाद— (लौकिक) आनन्द को, (रागरूपी) रस्सी को, जाल सहित (मोहरूपी) बन्धन को काट कर (अविद्यारूपी) अर्गला को फेंक देने वाले बुद्ध को मैं ब्राह्मण कहता हूं।

विशेष— प्रस्तुत गाथा में 'अबुद्ध' को प्रच्छन्नरूप से 'पशु' कल्पित किया

---

१. सा०—सन्दामम् २. बैल की नाक की रस्सी।

गया है। पशु नाथ रस्सी, मुछीका और अर्गला (श्रृंखला या जुआ) से बधा रहता है, इनसे पृथक् होने पर ही वह सुख का अनुभव करता है। इसी प्रकार मनुष्य भी लौकिक सुखों की रस्सी से बंधा हुआ है, उसके मुख पर भी कपडा बंधा रहता है[1], राग द्वेष, मोह का कठोर बन्धन है, अविद्यारूपी अर्गला उस बन्धन को और सुदृढ बना देती है। अतः इन सभी से विरक्त और प्रबुद्ध—पूर्णतया ज्ञानी व्यक्ति ही 'ब्राह्मण' कहलाने का अधिकारी है।

[स्थान—वेणुवन, व्यक्ति—अक्कोसक भारद्वाज]

३९९. अक्कोसं वधबन्धं च, अदुट्ठो यो तितिक्खति।
खन्तीबलं बलानीकं, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥१७॥

शब्दार्थ—अक्कोसं—आक्रोश को। वधबन्धं च—वध और बन्धन को। खन्तीबलं—क्षान्ति (क्षमा) बल को। बलानीकं—उसी बल की सेना वाले को।

अनुवाद—जो दुष्ट नहीं है (वह) आक्रोश (गाली), वध और बन्धन को सहन कर लेता है। क्षमा ही है बल जिसका, (तथा) वही बल जिसकी सेना है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूं।

[स्थान—वेणुवन, व्यक्ति—सारिपुत्त थेर]

४००. अक्कोधनं वतवन्तं, सीलवन्तं अनुस्सुतं[2]।
दन्तं अन्तिमसारीरं, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥१८॥

अनुवाद—जो क्रोध न करने वाला, व्रती, शीलवान, अनुश्रुत, दान्त (संयमी) और अन्तिम शरीर वाला है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूं।

[स्थान—जेतवन[3], व्यक्ति—उप्पलवण्णा थेरी]

४०१. वारि पोक्खरपत्ते' व, आरग्गेरिव सासपो।
यो न लिप्पति[4] कामेसु, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥१९॥

---

१ जैन साधु मुख पर श्वेत वस्त्र का पट्टी बांधते है। आजकल सरदार लोग भी दाढी की सुरक्षा के लिये उस पर कपडे की पट्टी लपेटते हैं।
२. ना०—अनुस्सुद। ३. सा०—राजगृह (वेणुवन)।
४. ना०—लिम्पति।

शब्दार्थ—पोक्खरपत्ते—पुष्कर पत्र पर। आरग्गेरिव—आरे के अग्रभाग पर, इव—जैसे। सासपो—सरसों।

अनुवाद :—कमल के पत्ते पर जल की तरह (और) आरे के अग्रभाग पर सरसों की तरह जो कामों में लिप्त नहीं होता, मैं उसे ब्राह्मण कहता हूं।

[स्थान—जेतवन व्यक्ति—अञ्ञतर ब्राह्मण]

४०२. यो दुक्खस्स पजानाति, इधेव खयमत्तनो।
पन्नभारं विसंयुत्तं, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥२०॥

शब्दार्थ—पजानाति—जानता है। पन्नभारं—भार फेंक देने वाले को। "ओहितखन्धभार"—बुद्धघोष।

अनुवाद :—जो अपने दुःख का विनाश यहीं जान लेता है और जिसने (अविद्यारूपी) भार को उतार फेंका है तथा आसक्ति रहित है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूं।

[स्थान—गिज्झकूट पर्वत, व्यक्ति—खेमा भिक्खुनी]

४०३. गम्भीरपञ्ञं मेधाविं, मग्गामग्गस्स कोविदं।
उत्तमत्थं अनुप्पत्तं, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥२१॥

अनुवाद :—(जो) गम्भीर प्रज्ञा वाला, मेधावी, मार्ग और अमार्ग को जानने वाला तथा उत्तम अर्थ को प्राप्त हो चुका है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूं।

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—पब्भारवासी तिस्स थेर]

४०४. असंसट्ठं गहट्ठेहि, अनागारेहि चूभयं।
अनोकसारिं अप्पिच्छं, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥२२॥

शब्दार्थ :—असंसट्ठं—असंसृष्ट (सं० असंसृष्टम्)। गहट्ठेहि—गृहस्थों से। अनागारेहि—गृहविहीनों से। अनोकसारिं—बिना ठिकाने घूमने वाले को। अप्पिच्छं—अल्प इच्छा वाले को।

अनुवाद :—गृहस्थ और गृहविहीन—दोनों ही से जो असंसृष्ट है, जो बिना ठिकाने घूमता है, अल्प इच्छा वाला है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूं।

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—अन्यतर भिक्खु]

४०५ निधाय दण्डं भूतेसु, तसेसु थावरेसु च ।
यो न हन्ति न घातेति, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं । २३॥

शब्दार्थ—तसेसु—चर प्राणियो मे । थावरेसु—स्थावर अर्थात् अचर प्राणियो मे । मैक्समूलर ने 'Feeble or strong' (निर्बल, और शक्ति सम्पन्न) अर्थ किया है ।

अनुवाद—जो चर-अचर (सभी) प्राणियो मे दण्ड का प्रयोग नही करता (और) न मारता है तथा न मारने की प्रेरणा देता है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हू ।

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—चत्तारो सामणेरा]

४०६. अविरुद्धं विरुद्धेसु, अत्तदण्डेसु निब्बुतं ।
सादानेसु अनादानं, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥२४॥

अनुवाद—जो विरोधियो के बीच मे अविरुद्ध, दण्डधारियो के बीच में (दण्ड से) निर्वृत और सग्रह करने वालो के बीच मे असग्रही है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हू ।

[स्थान—वेणुवन, व्यक्ति—महापन्थक थेर]

४०७. यस्स रागो च दोसो च, मानो मक्खो च पातितो ।
सासपोरिव आरग्गा, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥२५॥

अनुवाद—जिसका राग द्वेष, मान और म्रक्ष (दम्भ) आरे के अग्रभाग से सरसो के समान गिरा दिये गये हैं—उसे मैं ब्राह्मण कहता हू ।

स्थान—वेणुवन, व्यक्ति—पिलिन्दवच्छ थेर]

४०८. अकक्कसं विञ्ञापनिं, गिरं सच्चमुदीरये ।
याय नाभिसजे कञ्चि, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥२६॥

शब्दार्थ :—विञ्ञापनिं = विज्ञापनी अर्थात् ज्ञानवर्द्धक । नाभिसजे = पीडा न पहुचे (स० न अभिषजेत्) ।

अनुवादः—जो कोमल, ज्ञानवर्द्धक (और) सत्य वाणी बोले जिससे कुछ भी पीडा न पहुचे, मैं उसे ब्राह्मण कहता हू ।

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—अञ्ञतर थेर]

४०९. यो'ध दीघं व रस्सं वा, अणुं थूलं सुभासुभं।
लोके अदिन्नं नादियति, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥२७॥

अनुवाद —इस लोक में जो बड़ी, छोटी, सूक्ष्म, स्थूल, शुभ या अशुभ न दी गयी (वस्तु) को नहीं लेता, मैं उसे ब्राह्मण कहता हूँ।

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—सारिपुत्त थेर]

४१०. आसा यस्स न विज्जन्ति, अस्मिंलोके परम्हि च।
निरासयं विसंयुत्तं, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥२८॥

अनुवाद:—जिसकी आशायें इस लोक में और परलोक में (भी) नहीं हैं (और जो) आशारहित (एवं) आसक्ति रहित है, मैं उसे ब्राह्मण कहता हूँ।

[स्थान—जेतवन व्यक्ति—महामोग्गल्लान थेर]

४११. *यस्सालया न विज्जन्ति, अञ्ञाय अकथंकथी।*
अमतोगधं अनुप्पत्तं, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥२९॥

शब्दार्थ — आलया = तृष्णायें। अञ्ञाय = जानकर (सं० आज्ञाय)। अकथंकथी = न कही हुयी का कहने वाला। बुद्धघोष ने 'संशयरहित' अर्थ किया है। लेकिन मैक्समूलर की यह टिप्पणी भी ध्यान देने योग्य है—

From our passage, however, it seems as if कथंकथा was a noun derived from कथंकथति, 'to say How how ?' So that neither the first nor the second element had anything to do with Kath, 'to relate, and in that case अकथं too, ought to be taken in the sense of 'without a why.' अमतोगध—अगाध अमृतत्व।

अनुवाद :—जिसकी तृष्णायें नहीं हैं, (जो) जानकर न कही हुई (बात) को कहने वाला है, (और) अगाध अमृतत्व को प्राप्त हो चुका है, मैं उसे ब्राह्मण कहता हूँ।

[स्थान—पुब्बाराम (सावत्थी), व्यक्ति—रेवत[1] थेर]

४१२. यो, ध पुञ्ञञ्च पापञ्च, उभो सङ्गमुपच्चगा।

असोकं विरजं सुद्धं, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥३०॥

अनुवाद —जो इस ससार मे पुण्य और पाप—दोनो के सयोग (आसक्ति) को छोड चुका है, (जो) शोक रहित, निर्मल (और) शुद्ध (है) मैं उसे ब्राह्मण कहता हू।

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—चन्दाभ थेर]

४१३. चन्दं, व विमलं सुद्धं, विप्पसन्नमनाविलं।

नन्दीभवपरिक्खीणं, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥३१॥

शब्दार्थ —अनाविल = निष्कलक। नन्दीभवपरिक्खीण = ससार के आनन्द पूरी तरह नष्ट हो गये हैं जिसके उसे।

अनुवाद —चन्द्रमा के समान विमल, शुद्ध, प्रसन्न और निष्कलक को (तथा) जिसके सासारिक आनन्द पूरी तरह नष्ट हो गये हैं उसे मैं ब्राह्मण कहता हू।

[स्थान—कुण्डकोलिय (कुण्डधान वन), व्यक्ति—सीवलि थेर]

४१४. यो[2] इमं पलिपथं दुग्गं, संसारं मोहमच्चगा।

तिण्णो पारगतो[3] झायी, अनेजो अकथङ्कथी।

अनुपादाय निब्बुतो, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥३२॥

शब्दार्थ—पलिपथ = उलटे रास्ते को। मोहमच्चगा = मोहम् + अत्यगात्। अनेजो = निडर, "free from dobuts"—मैक्सम्यूलर।

अनुवाद :—जो इस दुर्गम ससार के मोहपूर्ण उलटे रास्ते को पार कर चुका है, जो (इस भवसागर को) पार कर चुका है, उसके उस पार पहुच गया है, जो ध्यानी निडर और कही हुई बात को कहने वाला है तथा अनासक्त और निवृत्त है—मैं उसे ब्राह्मण कहता हू।

१ सा०—जेवत थेर। २. ब०—योम। ३ पारङ्गतो।

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—सुन्दरसमुद्द थेर]

४१५. यो'ध कामे पहत्वान, अनागारो परिब्बजे ।
कामभवपरिक्खीणं, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥३३॥

अनुवाद—जो यहाँ कामों को छोड़कर, गृह विहीन हो परिव्राजक हो जाता है (जिसके) काम (भोग) और जन्म नष्ट हो गये हैं, मैं उसे ब्राह्मण कहता हूँ ।

[स्थान—वेणुवन, व्यक्ति—जोतिक थेर[1]]

४१६. यो'ध तण्हं पहत्वान, अनागारो परिब्बजे ।
तण्हाभवपरिक्खीणं, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं[2] ॥३४॥

अनुवाद—जो यहाँ तृष्णा को छोड़कर, गृह विहीन हो परिव्राजक हो जाता है (जिसकी), तृष्णा और जन्म नष्ट हो गये हैं, मैं उसे ब्राह्मण कहता हूँ ।

[स्थान—वेणुवन, व्यक्ति—एक नटपुत्तक]

४१७ हित्वा मानुसकं योगं, दिब्बं योगं उपच्चगा ।
सब्बयोगविसंयुत्तं, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥३५॥

अनुवाद—मानुषिक योग (आसक्ति) को छोड़कर दिव्य योग को (भी) दूर कर (जो) सभी योगों (आसक्तियों) से असंपृक्त है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ ।

४१८. हित्वा रतिञ्च अरतिञ्च, सीतिभूतं निरूपधिं ।
सब्बलोकाभिभुं वीरं, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥३६॥

शब्दार्थ :—सीतिभूत=शान्त (सं० शीतीभूतम्) । निरूपधि=उपाधि (क्लेश) रहित ।

अनुवाद—जो राग और वैराग्य को छोड़कर, शान्त हुआ, क्लेश रहित (और) सभी लोकों को जीतने वाला वीर है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ ।

---

१. सा०—जटिल थेर । २ अट्ठकथायं पन इध गाथा द्विन्नम्, द्विन्नं ति—जटिलत्थेरस्स [illegible] जोतिकत्थेरस्स [illegible] च । [illegible]
[illegible] ''—[illegible] के आभार [illegible] ।

[स्थान—जेतवन[1] व्यक्ति—वगीस थेर]

४१९. चुतिं यो वेदि सत्तानं, उपपत्तिं च सब्बसो।
अमत्तं सुगतं बुद्धं, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥३७॥

अनुवाद :—जो सत्वों की च्युति (विनाश) और उत्पत्ति को सभी प्रकार से जानता है (और) जो आसक्ति रहित, सुगत और बुद्ध है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

४२०. यस्स गतिं न जानन्ति, देवा गन्धब्बमानुसा।
खीणासवं अरहन्तं, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥३८॥

अनुवाद :—जिसकी गति को देवता, गन्धर्व (और) मनुष्य नहीं जानते हैं (तथा जो) क्षीणास्रव और अर्हत् है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

[स्थान—वेणुवन, व्यक्ति—धम्मदिन्ना भिक्खुनी]

४२१ यस्स पुरे च पच्छा च, मज्झे च नत्थि किञ्चनं।
अकिञ्चनं अनादानं, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥३९॥

अनुवाद —जिसके आगे, पीछे अथवा मध्य में कुछ भी नहीं है, उस अकिञ्चन और अपरिग्रही को मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—अगुलिमाल थेर]

४२२. उसभं पवरं वीरं, महेसिं विजिताविनं।
अनेजं नहातकं[2] बुद्धं, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥४०॥

अनुवाद—जो ऋषभ (मनुष्यों मे श्रेष्ठ), प्रवर, वीर, महर्षि, विजयी, निडर स्नातक और बुद्ध है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—देवहितक ब्राह्मण[3]]

४२३. पुब्बे निवासं यो वेदि, सग्गापायञ्च पस्सति।
अथो जातिक्खयं पत्तो, अभिञ्ञावोसितो मुनि।
सब्बवोसितवोसानं, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥४१॥

१ मा०—राजगृह (वेणुवन)। २. मा०—न्हातकं।
३. सा—देवहित ब्राह्मण। ब्रह्मदेशीय पाठ भी ऐसा ही है।

शब्दार्थ—पुब्बे निवास = पूर्व जन्म। सग्गापायञ्च = स्वर्ग और नरक को। पत्तो = प्राप्त हुआ। अभिञ्ञावोसितो = अभिज्ञा (प्रज्ञा) में व्यवसित (पूर्ण)। सब्बवोसितवोसान = सर्वव्यवसित (सभी पूर्णताओं) को पूर्ण करने वाले को।

अनुवाद :—जो पूर्व जन्म को जानता है, स्वर्ग और नरक को देखता है, जन्म-क्षय को प्राप्त हो चुका है, अभिज्ञा में पूर्ण है, मुनि है (तथा) सभी पूर्णताओं को जिसने पूरा कर लिया है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूं।

धम्मपदे वग्गानमुद्दानं

यमकप्पमादो चित्तं, पुप्फ बालेन पण्डितो।
अरहन्तो सहस्स च, पाप दण्डेन ते दस ॥१॥
जरा अत्ता च लोको च, बुद्धो सुख पियेन च।
कोधो मल च धम्मट्ठो, मग्गवग्गेन वीसति ॥२॥
पकिण्णं निरयो नागो, तण्हा भिक्खु च ब्राह्मणो।
एते छब्बीसति वग्गा, देसितादिच्च बन्धुना ॥३॥

गाथानमुद्दानं

यमके वीसति गाथा, अप्पमादम्हि द्वादस ।
एकादस चित्तवग्गे, पुप्फवग्गम्हि सोलस ॥१॥

बाले च सोलसगाथा, पण्डितम्हि चतुद्दस ।
अरहन्ते दसगाथा, सहस्से होन्ति सोलस ॥२॥

तेरस पापवग्गम्हि, दण्डम्हि दस सत्त च ।
एकादस जरावग्गे, अत्तवग्गम्हि ता दस ॥३॥

द्वादसलोकवग्गम्हि, बुद्धवग्गम्हि ठारस ।
सुखे च पियवग्गे च, गाथायो होन्ति द्वादस ॥४॥

चुद्दस कोधवग्गम्हि, मलवग्गेकवीसति ।
सत्तरस च धम्मट्ठे, मग्गवग्गे सत्तरस ॥५॥

पकिण्णे सोलस गाथा, निरये नागे च चुद्दस ।
छब्बीस तण्हावग्गम्हि, तेवीस भिक्खुवग्गिका ॥६॥

एकतालीसगाथायो, ब्राह्मणे वग्गमुत्तमे ।
गाथा सतानि चत्तारि, तेवीस च पुनापरे ।
धम्मपदे निपातम्हि, देसितादिच्च बन्धुना ति ॥७॥

धम्मपदपालि समत्ता

नवोदित प्रिंटिङ्ग प्रेस, १६८, तोपचीवाड़ा, मेरठ ।

परिशिष्ट

[अ]

धम्मपदस्थगाथानां संस्कृतच्छाया

[१]

मन. पूर्वङ्गमा धर्मा मन: श्रेष्ठा मनोमया: ।
मनसा चेत्प्रदुष्टेन भाषते वा करोति वा ॥
तत एन दु:खमन्वेति चक्रमिव वहत पदम् ॥१॥
मनः पूर्वङ्गमा धर्मा मन श्रेष्ठा मनोमया. ।
मनसा चेत्प्रसन्नेन भाषते वा करोति वा ।
तत एन सुखमन्वेति छायेवानपायिनी ॥२॥
अत्र क्षन्मामवधीन्मामजैषन्मामहार्षीन्मे ।
ये च तदुपनह्यन्ति वैर तेषा न शाम्यति ॥३॥
अत्र क्षन्मामवधीन्माम जैषीत् मामहार्षीन्मे ।
ये तन्नोपनह्यन्ति वैर तेषूपशाम्यति ॥४॥
न हि वैरेण वैराणि शाम्यन्तीह कदाचन ।
अवैरेण च शाम्यन्ति एष धर्म सनातन ॥५॥
परे च न विजानन्ति वयमत्र यस्याम: ।
ये च तत्र विजानन्ति तत शाम्यन्ति मेधगा ॥६॥
शुभमनुपश्यन्त विहरन्तमिन्द्रियेष्वसवृतम् ।
त वै प्रसहते मारो वातो वृक्षामिव दुर्बलम् ॥७॥
अशुभमनुपश्यन्त विहरन्तमिन्द्रियेषु सुसवृतम् ।
भोजने च मात्रज्ञ श्रद्धमारब्धवीर्यम् ।
त वै न प्रसहते मारो वात शैलमिव पर्वतम् ॥८॥
अनिष्कषाय. काषाय यो वस्त्र परिधास्यति ।
अपेतो दमसत्याभ्या न स काषायमर्हति ॥९॥
यश्च वान्तकषाय स्यात् शीलेषु सुसमाहित: ।
उपेतो दमसत्याभ्या स वै काषायमर्हति ॥१०॥

असारे सारमतय सारे चासारदर्शिन: ।
ते सार नाधिगच्छन्ति मिथ्यासङ्कल्पगोचरा ।।११।।
सार च सारतो ज्ञात्वा असार चासारत: ।
ते सारमधिगच्छन्ति सम्यक्सङ्कल्पगोचरा ।।१२।।
यथागारं दुश्छन्न वृष्टि:, समतिविध्यति ।
एवमभावित चित्त राग समतिविध्यति ।।१३।।
यथागार सुच्छन्न वृष्टिर्न समतिविध्यति ।
एव सुभावित चित्त रागो न समतिविध्यति ।।१४।।
इह शोचति प्रेत्य शोचति पापकारी उभयत्र शोचति ।
स शोचति स विहन्यते दृष्ट्वा कर्मक्लिष्टमात्मन ।।१५।।
इह मोदते प्रेत्य मोदते कृतपुण्य उभयत्र मोदते ।
स मोदते स प्रमोदते दृष्ट्वा कर्मविशुद्धिमात्मन: ।।१६।।
इह तप्यति प्रेत्य तप्यति पापकारी उभयत्र तप्यति ।
पाप मया कृतमिति तप्यति भूयस्तप्यति दुर्गति गत ।।१७।।
इह नन्दति प्रेत्य नन्दति कृतपुण्य उभयत्र नन्दति ।
पुण्य मया कृतमिति नन्दति भूयो नन्दति सुगति गत ।।१८।।
बह्वपि चेत्सहितां भाषमाणो न तत्करो भवति नर प्रमत्त: ।
गोप इव गा गणयन् परेषां, न भागवान् श्रामण्यस्य भवति ।।१९।।
अल्पामपि चेत्सहिता भाषमाणो, धर्मस्य भवत्यनुधर्मचारी ।
रागञ्च द्वेषञ्च प्रहाय मोह, सम्यक्प्रजान सुविमुक्तचित्त ।
अनुपाददान इह वा परत्र वा, स भागवान् श्रामण्यस्य भवति ।।२०।।

[२]

अप्रमादोऽमृतपद प्रमादो मृत्यो पदम् ।
अप्रमत्ता न म्रियन्ते ये प्रमत्ता यथा मृता ।।२१।।
एत विशेषतो ज्ञात्वा अप्रमादे पण्डिता ।
अप्रमादे प्रमोदन्ते आर्याणां गोचरे रता ।।२२।।
ते ध्यायिनो सतत नित्य दृढ पराक्रमा: ।
स्पृशन्ति धीरा निर्वाण योगक्षेममनुत्तरम् ।।२३।।

उत्थानवतः स्मृतिमतः शुचिकर्मणो निशम्यकारिण. ।
संयतस्य च धर्मजीविनोऽप्रमत्तस्य यशोऽभिवर्द्धते ॥२४॥
उत्थानेनाप्रमादेन संयमेन दमेन च ।
द्वीपं कुर्वीत मेधावी यमोघो नाभिकिरति ॥२५॥
प्रमादमनुयुञ्जन्ति बाला दुर्मेधसो जना. ।
अप्रमादं च मेधावी धनं श्रेष्ठमिव रक्षति ॥२६॥
मा प्रमादमनुयुञ्जीत मा कामरतिसंस्तवम् ।
अप्रमत्तो हि ध्यायन् प्राप्नोति विपुलं सुखम् ॥२७॥
प्रमादं अप्रमादेन यदा नुदति पण्डितः,
प्रज्ञाप्रासादमारुह्य अशोकः शोकिनीं प्रजाम् ।
पर्वतस्थ इव भूमिस्थान् धीरो बालान् अवेक्षते ॥२८॥
अप्रमत्तः प्रमत्तेषु सुप्तेषु बहुजागरः ।
अबलाश्वमिव शीघ्राश्वो हित्वा याति सुमेधाः ॥२९॥
अप्रमादेन मघवा देवानां श्रेष्ठतां गतः ।
अप्रमादं प्रशंसन्ति प्रमादो गर्हितः सदा ॥३०॥
अप्रमादरतो भिक्षुः प्रमादे भयदर्शी वा ।
संयोजनं अणुं स्थूलं दहन् अग्निरिव गच्छति ॥३१॥
अप्रमादरतो भिक्षुः प्रमादे भयदर्शी वा ।
अभव्यः परिहाणाय निर्वाणस्यैव अन्तिके ॥३२॥

(३)

स्पन्दनं चपलं चित्तं दूरक्ष्यं दुर्निवार्यम् ।
ऋजुं करोति मेधावी इषुकार इव तेजनम् ॥३३॥
वारिज इव स्थले क्षिप्त ओकओकत उद्धृतः ।
परिस्पन्दत इदं चित्तं मारधेयं प्रहातुम् ॥३४॥
दुर्निग्रहस्य लघुनो यत्रकामनिपातिनः ।
चित्तस्य दमनं साधु चित्तं दान्तं सुखावहम् ॥३५॥
सुदुर्दर्शं सुनिपुणं यत्रकामनिपाति ।
चित्तं रक्षेत मेधावी चित्तं गुप्तं सुखावहम् ॥३६॥

दूरङ्गमम् एकचरम् अशरीर गुहाशयम् ।
ये चित्त सयस्यन्ति मोक्ष्यन्ते मारबन्धनात् ॥३७॥

अनवस्थितचित्तस्य सद्धर्मम् अविजानत ।
परिप्लवप्रसादस्य प्रज्ञा न परिपूयते ॥३८॥

अनवस्रुतचित्तस्य अनन्वाहतचेतसः ।
पुण्यपापप्रहीणस्य नास्ति जाग्रतो भयम् ॥३९॥

कुम्भोपम कायमिमं विदित्वा, नगरोपम चित्तमिद स्थापयित्वा ।
युध्येत मार प्रज्ञायुधेन, जित च रक्षेद् अनिवेशन स्यात् ॥४०॥
अचिर वत अय काय पृथ्वीम् अभिशेष्यते ।
क्षिप्तोऽपेतविज्ञानो निर्थमिव कलिङ्गरम् ॥४१॥
द्विट्द्विष यत्कुर्याद् वैरी वा पुनर्वैरिणम् ।
मिथ्याप्रणिहित चित्त पापीयाः समेन ततः कुर्यात् ॥४२॥
न तद् मातापितरौ कुर्याताम् अन्ये चापि च ज्ञातिका ।
सम्यक् प्रणिहित चित्त श्रेयाः समेन तत. कुर्यात् ॥४३॥

(४)

को इमा पृथिवी विजेष्यति यमलोक चेम सदेवकम् ।
को धर्मपद सुदेशित कुशलः पुष्पमिव प्रचेष्यति ॥४४॥
शैक्ष पृथिवी विजेष्यति यमलोक नम सदेवकम् ।
शैक्षो धर्मपद सुदेशित कुशल पुष्पमिव प्रचेष्यति ॥४५॥
फेनोपमं कायमिम विदित्वा, मरीचिधर्ममभिसम्बुधान ।
छित्वा मारस्य प्रपुष्पकाणि, अदर्शन मृत्युराजस्य गच्छेत् ॥४६॥
पुष्पाणि हि एव प्रचिन्वन्त व्यासक्तमनस नरम् ।
सुप्त ग्राम महौघ इव मृत्युरादाय गच्छति ॥४७॥
पुष्पाणि ह्येव प्रचिन्वन्त व्यासक्तमनसं नरम् ।
अतृप्तमेव कामेषु अन्तक कुरुते वशम् ॥४८॥
यथापि भ्रमर पुष्प वर्णगन्धमहेठमान ।
पलायते रसमादाय एव ग्रामे मुनिश्चरेत् ॥४९॥

न परेषां विलोमानि न परेषां कृताकृतम् ।
आत्मन एव अवेक्षेत कृतानि-अकृतानि च ॥५०॥
यथापि रुचिरं पुष्पं वर्णवद् अगन्धकम् ।
एवं सुभाषिता वाग् अफला भवति अकुर्वतः ॥५१॥
यथापि रुचिरं पुष्पं वर्णवद् सगन्धकम् ।
एवं सुभाषिता वाक् सफला भवति कुर्वतः ॥५२॥
यथापि पुष्पराशेः कुर्यात् मालागुणान् बहून् ।
एवं जातेन मर्त्येन कर्त्तव्यं कुशलं बहु ॥५३॥
न पुष्पगन्धः प्रतिवातमेति न चन्दनं तगरं मल्लिका वा ।
सतां च गन्धः प्रतिवातमेति सर्वा दिशः सत्पुरुषः प्रवाति ॥५४॥
चन्दनं तगरं वापि उत्पलमथ वार्षिकी ।
एतेषां गन्धजातानां शीलगन्धोऽनुत्तरः ॥५५॥
अल्पमात्रोऽयं गन्धो योऽयं तगरचन्दनी ।
यश्च शीलवतां गन्धो वाति देवेषु उत्तमः ॥५६॥
तेषां सम्पन्नशीलानाम् अप्रमादविहारिणाम् ।
सम्यगज्ञाविमुक्तानां मारो मार्गं न विन्दति ॥५७॥
यथा सङ्कारधाने उज्झितं महापथे ।
पद्मं तत्र जायेत शुचिगन्धं मनोरमम् ॥५८॥
एवं सङ्कारभूते अन्धभूते पृथग् जने ।
अतिरोचते प्रज्ञया सम्यक् सम्बुद्धश्रावकः ॥५९॥

(५)

दीर्घा जाग्रतो रात्रिः दीर्घं श्रान्तस्य योजनम् ।
दीर्घो बालानां संसारः सद्धर्मम् अविजानताम् ॥६०॥
चरंश्चेत् नाधिगच्छेत् श्रेयांसं सदृशमात्मनः ।
एकचर्यां दृढां कुर्यात् नास्ति बाले सहायता ॥६१॥
पुत्रा मे सन्ति धनं मेऽस्ति इति बालो विहन्यते ।
आत्मा हि आत्मनो नास्ति कुतः पुत्राः कुतो धनम् ॥६२॥

यो बालो मन्यते बाल्यं पण्डितो वापि तेन सः ।
बालश्च पण्डितमानी स वै बाल इत्युच्यते ॥६३॥
यावज्जीवम् अपि चेद् बाल पण्डितं पर्युपास्ते ।
न स धर्म विजानाति दर्वी सूपरस यथा ॥६४॥
मुहूर्तमपि चेद् विज्ञ पण्डित पर्युपास्ते ।
क्षिप्र धर्म विजानाति जिह्वा सूपरस यथा ॥६५॥
चरन्ति बाला दुर्मेधस अमित्रेणेव आत्मना ।
कुर्वन्त पापक कर्म यद् भवति कटुकफलम् ॥६६॥
न तत् कर्म कृत साधु यत्कृत्वा अनुतप्यते ।
यस्य अश्रुमुखो रुदन् विपाक प्रतिसेवते ॥६७॥
तच्च कम कृत साधु यत्कृत्वा नानुतप्यते ।
यस्य प्रतीत सुमनो विपाक प्रतिसेवते ॥६८॥
मधु इव मन्यत बालो यावद् पाप न पच्यते ।
यदा च पच्यते पापम् अथ बालो दुःख निगच्छति ॥६९॥
मासे मासे कुशाग्रेण बालो भुञ्जीत भोजनम् ।
न स सङ्ख्यातधर्माणा कलाम् अर्हति षोडशीम् ॥७०॥
न हि पाप कृत कम सद्य क्षीरम् इव मुञ्चति ।
दहन् बालम् अन्वेति भस्मच्छन्न इव पावक. ॥७१॥
यावदेव अनर्थाय ज्ञप्त बालस्य जायते ।
हन्ति बालस्य शुक्लांश मूर्धानमस्य विपातयन् ॥७२॥
असता भावनमिच्छेत् पुरस्कार च भिक्षुषु ।
आवासेषु च ऐश्वर्यं पूजा परकुलेषु च ॥७३॥
ममैव कृत मन्यता गृहिप्रव्रजितौ उभौ
ममैव अतिवशौ स्याता कृत्याकृत्येषु कस्मिश्चित् ।
इति बालस्य संकल्प इच्छा मानश्च वर्द्धते ॥७४॥
अन्या हि लाभोपनिश्रेणी अन्या निर्वाणगामिनी,
एवम् एतद् अभिज्ञाय भिक्षुः बुद्धस्य श्रावकः ।
[illegible] ॥७५॥

(६)

निधीनाम् इव प्रवक्तार य पश्येद् वर्ज्यदर्शिनम्,
निगृह्यवादिनं मेधाविन तादृश पण्डित भजेद् ।
तादृश भजमानस्य श्रेयो भवति न पापीय ॥७६॥
अववदेद् अनुशिष्यात् असभ्याच्च निवारयेत् ।
सता हि स प्रियो भवति असता भवति अप्रिय: ॥७७॥
न भजेत् पापकानि मित्राणि न भजेत् पुरुषाधमान् ।
भजेत मित्राणि कल्याणानि भजेत पुरुषोत्तमान् ॥७८॥
धर्मप्रीती सुख शेते विप्रसन्नेन चेतसा ।
आर्यप्रवेदिते धर्मे सदा रमते पण्डित: ॥७९॥
उदक हि नयन्ति नेतृका इषुकारा नमयन्ति तेजनम् ।
दारु नमयन्ति तक्षका आत्मान दमयन्ति पण्डिता ॥८०॥
शैलो यथैकघनो वातेन न समीर्यते ।
एव निन्दाप्रशसासु न समीज्यन्ते पण्डिता ॥८१॥
यथापि ह्रदो गम्भीरो विप्रसन्नोऽनाविल ।
एव धर्मान् श्रुत्वा विप्रसीदन्ति पण्डिता ॥८२॥
सर्वत्र वै सत्पुरुषा व्रजन्ति न कामकामालपन्ति सन्त ।
सुखेन स्पृष्टा अथवा दु खेन नोच्चावच पण्डिता दर्शयन्ति ॥८३॥
नात्महेतोर्न परस्यहेतोर्न पुत्रमिच्छेन्न धन न राष्ट्रम् ।
नेच्छेदधर्मेण समृद्धिमात्मन: सशीलवान् प्रज्ञावान् धार्मिक स्यात् ॥८४॥
अल्पकास्ते मनुष्येषु ये जना पारगामिन: ।
अथ इय इतरा प्रजा तीरमेवानुधावति ॥८५॥
ये च खलु सम्यग् आख्याते धर्मे धर्मानुवर्तिन. ।
ते जना पारमेष्यन्ति मृत्युधेय सुदुस्तरम् ॥८६॥
कृष्ण धर्मं विप्रहाय शुक्ल भावयेत् पण्डित: ।
ओकाद् अनोकम् आगम्य विवेके यत्र दूरमम् ॥८७॥
तत्राभिरतिमिच्छेद् हित्वा कामान् अकिंचन ।
पर्यवदापयेद् आत्मानं चित्तक्लेशै पण्डित ॥८८॥

येषां सम्बोध्यङ्गेषु सम्यक् चित्तं सुभावितम् ।
आदानप्रतिनिस्सर्गे अनुपादाय ये रताः ।
क्षीणास्रवा ज्योतिष्मन्तस्ते लोके परिनिर्वृताः ॥८९॥

[७]

गताध्वनः विशोकस्य विप्रमुक्तस्य सर्वथा ।
सर्वग्रन्थप्रहीणस्य परिदाहो न विद्यते ॥९०॥
उद्युञ्जते स्मृतिमन्तो न निकेते रमन्ते ते ।
हंसा इव पल्वलं हित्वा ओकमोकं जहति ते ॥९१॥
येषां सन्निचयो नास्ति ये परिज्ञातभोजनाः ।
शून्यतोऽनिमित्तश्च विमोक्षो येषां गोचरः ।
आकाश इव शकुन्तानां गतिस्तेषां दुरन्वया ॥९२॥
यस्यास्रवाः परिक्षीणा आहारे च अनिःसृतः,
शून्यतोऽनिमित्तश्च विमोक्षो यस्य गोचरः ।
आकाश इव शकुन्तानां पदं तस्य दुरन्वयम् ।९३॥
यस्येन्द्रियाणि शमथं गतानि अश्वा यथा सारथिना सुदान्ताः ।
प्रहीणमानस्य अनास्रवस्य देवा अपि तस्मै स्पृहयन्ति तादृशः ॥९४॥
पृथिवीसमो न विरुध्यते इन्द्रकीलोपमस्तादृक् सुव्रतः ।
ह्रद इवापेतकर्दमः संसारा न भवन्ति तादृशः ॥९५॥
शान्तं तस्य मनो भवति शान्ता वाक् च कर्म च ।
सम्यग् ज्ञानविमुक्तस्य उपशान्तस्य तादृशः ॥९६॥
अश्रद्धोऽकृतज्ञश्च सन्धिच्छेदश्च यो नरः ।
हतावकाशो वान्ताशः स वै उत्तमपुरुषः ॥९७॥
ग्रामे वा यदि वारण्ये निम्ने वा यदि वा स्थले ।
यत्रार्हन्तो विहरन्ति सा भूमी रमणीयका ॥९८॥
रमणीयानि अरण्यानि यत्र न रमते जनः ।
वीतरागा रस्यन्ते न ते कामगवेषिणः ॥९९॥

[८]

सहस्रमपि चेद् वाचः अनर्थपदसंहिताः ।
एकमर्थपदं श्रेयो यद् श्रुत्वा उपशाम्यति ॥१००॥

सहस्रमपि चेद् गाथा अनर्थपदसंहिता ।
एकं गाथापदं श्रेयो यत् श्रुत्वा उपशाम्यति ॥१०१॥
यश्च गाथा शतं भाषेतानर्थपदसंहिता ।
एकं धर्मपदं श्रेयो यत् श्रुत्वा उपशाम्यति ॥१०२॥
यः सहस्रं सहस्रेण संग्रामे मानुषान् जयेत् ।
एकं च जयेद् आत्मानं स वै संग्रामजिदुत्तमः ॥१०३॥
आत्मा ह वै जितं श्रेयान् या चेयम् इतरा प्रजा ।
आत्मदान्तस्य पुरुषस्य नित्यं संयतचारिणः ॥१०४॥
नैव देवो न गन्धर्वो न मारः सह ब्रह्मणा ।
जितम् अपजितं कुर्यात् तथारूपस्य जन्तोः ॥१०५॥
मासे मासे सहस्रेण यो यजेत शतं समाः ।
एकं च भावितात्मानं मुहूर्तमपि पूजयेत् ।
सैव पूजना श्रेयसी यच्चेद् वर्षशतं हुतम् ॥१०६॥
यश्च वर्षशतं जन्तुः अग्निं परिचरेद् वने ।
एकं च भावितात्मानं मुहूर्तमपि पूजयेत् ।
सैव पूजना श्रेयसी यच्चेद् वर्षशतं हुतम् ॥१०७॥
यत्किञ्चिद् इष्टं च हुतं च लोके संवत्सरं यजेत पुण्यापेक्षः ।
सर्वमपि तन्न चतुर्भागमेति अभिवादना ऋजुगतेषु श्रेयसी ॥१०८॥
अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धापचायिनः ।
चत्वारो धर्मा वर्धन्ते आयुर्वर्णं सुखं बलम् ॥१०९॥
यश्च वर्षशतं जीवेद् दुःशीलोऽसमाहितः ।
एकाहं जीवितं श्रेयः शीलवतो ध्यायिनः ॥ ११०॥
यश्च वर्षशतं जीवेद् दुष्प्रज्ञोऽसमाहितः ।
एकाहं जीवितं श्रेयः प्रज्ञावतो ध्यायिनः ॥१११॥
यश्च वर्षशतं जीवेत् कुसीदो हीनवीर्यः ।
एकाहं जीवितं श्रेयो वीर्यमारभतो दृढम् ॥११२॥
यश्च वर्षशतं जीवेद् अपश्यन् उदयव्ययम् ।
एकाहं जीवितं श्रेयः पश्यत उदयव्ययम् ॥११३॥

यश्च वर्षशतं जीवेद् अपश्यन् अमृतं पदम् ।
एकाहं जीवितं श्रेयः पश्यतोऽमृतं पदम् ॥११४॥
यश्च वर्षशतं जीवेद् अपश्यन् धर्ममुत्तमम् ।
एकाहं जीवितं श्रेयः पश्यतो धर्ममुत्तमम् ॥११५॥

[९]

अभित्वरेत कल्याणे पापात् चित्तं निवारयेत् ।
तन्द्रा हि कुर्वतः पुण्यं पापे रमते मनः ॥११६॥
पापं चेत् पुरुषः कुर्यात् न तत्कुर्यात् पुनः पुनः ।
न तस्मिन् छन्दं कुर्यात् दुःखः पापस्योच्चयः ॥११७॥
पुण्यं चेत् पुरुषः कुर्यात् कुर्याद् एतत् पुनः पुनः ।
तस्मिन् छन्दं कुर्यात् सुखः पुण्यस्योच्चयः ॥११८॥
पापोऽपि पश्यति भद्रं यावत् पापं न पच्यते ।
यदा च पच्यते पापम् अथ पापो पापानि पश्यति ॥
भद्रोऽपि पश्यति पापं यावद् भद्रं न पच्यते ।
यदा च पच्यते भद्रम् अथ भद्रो भद्राणि पश्यति ॥१२०॥
माऽवमन्येत पापस्य न मा तद् आगमिष्यति ।
उदबिन्दुनिपातेन उदकुम्भोऽपि पूर्यते ।
बालः पूरयति पापस्य स्तोकं स्तोकमप्याचिन्वन् ॥१२१॥
माऽवमन्येत पुण्यस्य न मा तदागमिष्यति ।
उदबिन्दुनिपातेन उदकुम्भोऽपि पूर्यते ।
धीरः पूरयति पुण्यस्य स्तोकं स्तोकमप्याचिन्वन् ॥१२२॥
वणिज इव भयं मार्गम् अल्पसार्थो महाधनः ।
विषं जीवितुकाम इव पापानि परिवर्जयेत् ॥१२३॥
पाणौ चेद् व्रणो न स्याद् हरेत् पाणिना विषम्
नाव्रणं विषमन्वेति नास्ति पापमकुर्वतः ॥१२४॥
योऽप्रदुष्टाय नराय दुष्यति शुद्धाय पुरुषाय अनङ्गणाय ।
तमेव बालं प्रत्येति पापं सूक्ष्मः रजः प्रतिवातमिव क्षिप्तम् ॥१२५॥

गर्भमेके उत्पद्यन्ते निरयं पापकर्मिणः ।
स्वर्गं सुगतयो यान्ति परिनिर्वान्ति अनास्रवा ॥१२६॥
न अन्तरिक्षे न समुद्रमध्ये न पर्वतानां विवरं प्रविश्य ।
न विद्यते स जगति प्रदेशो यत्रस्थितो मुच्येत पापकर्मणः ॥१२७॥
न अन्तरिक्षे न समुद्रमध्ये न पर्वतानां विवरं प्रविश्य ।
न विद्यते स जगति प्रदेशो यत्र स्थितं न प्रसहेत मृत्युः ॥१२८॥

[१०]

सर्वे त्रस्यन्ति दण्डस्य सर्वे बिभ्यति मृत्योः ।
आत्मानम् उपमां कृत्वा न हन्यात् न घातयेत् ॥१२९॥
सर्वे त्रस्यन्ति दण्डस्य सर्वेषां जीवितं प्रियम् ।
आत्मानम् उपमां कृत्वा न हन्यात् न घातयेत् ॥१३०॥
सुखकामानि भूतानि यो दण्डेन विहिनस्ति ।
आत्मनः सुखमिच्छन् प्रेत्य स न लभते सुखम् ॥१३१॥
सुखकामानि भूतानि यो दण्डेन न हिनस्ति ।
आत्मनः सुखमिच्छन् प्रेत्य स लभते सुखम् ॥१३२॥
मा वोचः परुषं किञ्चिद् उक्ताः प्रतिवदेयुः त्वाम् ।
दुःखा हि सारम्भकथा प्रतिदण्डा स्पृशेयुस्त्वाम् ॥१३३॥
स चेत् न ईरयसि आत्मानं कांस्यम् उपहतं यथा ।
एष प्राप्तोऽसि निर्वाणं सारम्भस्ते न विद्यते । १३४॥
यथा दण्डेन गोपालो गाः प्राजयति गोचरम् ।
एवं जरा च मृत्युश्च आयुः प्राजयतः प्राणिनाम् ॥१३५॥
अथ पापानि कर्माणि कुर्वन् बालो न बुध्यते ।
स्वैः कर्मभिः दुर्मेधा अग्निदग्ध इव तप्यते ॥१३६॥
यो दण्डेन अदण्डेषु अप्रदुष्टेषु दुष्यति ।
दशानाम् अन्यतमं स्थानं क्षिप्रमेव निगच्छति ॥१३७॥
वेदनां परुषं ज्यानिं शरीरस्य च भेदनम् ।
गुरुकं वाऽप्याबाधं चित्तक्षेपं वा प्राप्नुयात् ॥
राजतो वोपसर्गम् अभ्याख्यानं वा दारुणम् ।
परिक्षयं वा ज्ञातीनां भोगानां वा प्रभञ्जनम् ॥१३८॥

अथवा अस्यागाराणि अग्निर्दहति पावक ।
कायस्य भेदाद् दुष्प्रज्ञो निरय स उपपद्यते ॥१४०॥
न नग्नचर्या न जटा न पङ्का, नानशन स्थण्डिलशायिका वा ।
रजोजल्लीयम् उत्कुटिक प्रधान शोधयन्ति मर्त्यम् अवितीर्णकाक्षम् ॥१४१॥
अलकृतश्चेदपि शम चरेत् शान्तो दान्तो नियतो ब्रह्मचारी ।
सर्वेषु भूतेषु निधाय दण्ड स ब्राह्मण स श्रमण स भिक्षु ॥१४२॥
ह्रीनिषेध पुरुष: कश्चित् लोके विद्यते ।
यो निन्दा अपबोधति अश्वो भद्र कशामिव ॥१४३॥
अश्वो यथा भद्र कशानिविष्ट आतापिन: सवेगिनो भवत ।
श्रद्धया शीलेन च वीर्येण च समाधिना धर्मविनिश्चयेन च ।
सम्पन्नविद्याचरणा प्रतिस्मृता प्रहास्यथ दु खमिदमनल्पकम् ॥
उदक हि नयन्ति नेतृका इषुकारा नमयन्ति तेजनम् ।
दारु नमयन्ति तक्षका आत्मान दमयन्ति सुव्रता ॥१४५॥

[११]

को नु हास: क आनन्दो नित्य प्रज्वलिते सति ।
अन्धकारेण अवनद्धा प्रदीप न गवेषयथ ॥१४६॥
पश्य चित्रीकृत बिम्बम् अरुष्काय समुच्छ्रितम् ।
आतुर बहुसकल्प यस्य नास्ति ध्रुव स्थिति ॥१४७॥
परिजीर्णमिद रूप रोगनीड प्रभङ्गुरम् ।
भिद्यते पूतिसन्देहो मरणान्त हि जीवितम् ॥१४८॥
यानि इमानि अपार्थानि अलाबूनि इव शरदि ।
कापोतकानि अस्थीनि तानि दृष्ट्वा का रति ॥१४९॥
अस्थ्ना नगर कृत मासलोहितलेपनम् ।
यत्र जरा च मृत्युश्च मानो म्रक्षश्चावहित ॥१५०॥
जीर्यन्ति वै राजरथा: सुचित्रा अथ शरीरमपि जरामुपैति ।
सता च धर्मो न जरामुपैति सन्तो ह वै सद्‍भ्य प्रवेदयन्ति ॥
अल्पश्रुतोऽय पुरुषो बलीवर्द इव जीर्यति ।
मासानि तस्य वर्धन्ते प्रज्ञा तस्य न वर्धते ॥१५२॥

अनेकजातिसंसार समधाविषम् अनिर्विशमान ।
गृहकार गवेषयन् दुःखा जातिः पुनः पुन ॥१५३॥
गृहकारक दृष्टोऽसि पुनर्गेह न करिष्यसि ।
सर्वास्ते पार्शुका भग्ना गृहकूट विसंस्कृतम् ।
विसंस्कारगत चित्त तृष्णाना क्षयमध्यगात् ॥१५४॥
अचरित्वा ब्रह्मचर्यं अलब्ध्वा यौवने धनम् ।
जीर्णक्रौञ्चा इव ध्यायन्ति क्षीणमत्स्ये इव पल्वले ॥१५५॥
अचरित्वा ब्रह्मचर्यम् अलब्ध्वा यौवने धनम् ।
शेरते चापा अतिक्षीणा इव पुराणानि अनुष्टुनन् ॥१५६॥

[१२]

आत्मानं चेत् प्रियं जानीयाद् रक्षेद् एनं सुरक्षितम् ।
त्रयाणाम् अन्यतमं याम प्रतिजागृयात् पण्डितः ॥१५७॥
आत्मानमेव प्रथमं प्रतिरूपे निवेशयेत् ।
अथ अन्यम् अनुशिष्यात् न क्लिश्येत् पण्डितः ॥१५८॥
आत्मान चेत्तथा कुर्याद् यथा अन्यमनुशास्ति ।
सुदान्तो बत दमयेद् आत्मा हि किल दुर्दमः ॥१५९॥
आत्मा हि आत्मनो नाथः को हि नाथः परः स्यात् ।
आत्मना हि सुदान्तेन नाथं लभते दुर्लभम् ॥१६०॥
आत्मना एव कृतं पापं आत्मजम् आत्मसम्भवम् ।
अभिमथ्नाति दुर्मेधसं वज्रमिवाश्ममयं मणिम् ॥१६१॥
यस्य अत्यन्तदौःशील्यं मालुवा शालमिवाततम् ।
करोति स तथात्मानं यथैनम् इच्छति द्विट् ॥१६२॥
सुकराणि असाधूनि आत्मनोऽहितानि च ।
यद् वै हितं च साधु च तद् वै परमदुष्करम् ॥१६३॥
यः शासनम् अर्हताम् आर्याणां धर्मजीविनाम् ।
प्रतिक्रोशति दुर्मेधा दृष्टिं निश्रित्य पापिकाम् ।
फलानि काष्ठकस्येव आत्मघाताय फलति ॥१६४॥

आत्मना हि कृत पापम् आत्मना सक्लिश्यति ।
आत्मना अकृत पापम् आत्मनैव विशुद्ध्यति ।
शुद्धि अशुद्धि प्रत्यात्म नान्योऽन्य विशोधयेत् ॥१६५॥
आत्मनोऽर्थ परार्थेन बहुनापि न हापयेत् ।
आत्मनोऽर्थं परार्थेन बहुनापि न हापयेत् ।

[१३]

हीन धर्मं न सेवेत प्रमादेन न सवसेत् ।
मिथ्यादृष्टि न सेवेत न स्यात् लोकवर्धन ॥१६७॥
उत्तिष्ठेत् न प्रमाद्येत धर्म सुचरित चरेत् ।
धर्मचारी सुख शेते अस्मिन् लोके परत्र च ॥१६८॥
धर्म चरेत् सुचरित नतद् दुश्चरित चरेत् ।
धर्मचारी सुख शेते अस्मिन् लोके परत्र च ॥१६९॥
यथा बुद्बुदक पश्येद् यथा पश्येत् मरीचिकाम् ।
एव लोकमवेक्षमाण मृत्युराजो न पश्यति ॥१७०॥
एत पश्यत इम लोक चित्र राजरथोपमम् ।
यत्र बाला विषीदन्ति नास्ति सगो विजानताम् ॥१७१॥
यश्च पूर्वं प्रमाद्य पश्चात् स न प्रमाद्यति ।
स इम लोक प्रभासयति अभ्रा मुक्त इव चन्द्रमा ॥१७२॥
यस्य पाप कृत कर्म कुशलेन पिधीयते ।
स इम लोक प्रभासयति अभ्रा मुक्त इव चन्द्रमा ॥१७३॥
अन्धीभूतोऽय लोक तनुकोऽत्र विपश्यति ।
शकुनो जालमुक्त इव अल्प स्वर्गाय गच्छति ॥१७४॥
हसा आदित्यपथे यन्ति आकाशे यन्ति ऋद्धिका ।
नीयन्ते धीरा लोकात् जित्वा मार सवाहिनीकम् ॥१७५॥
एक धर्मम् अतीतस्य मृषावादिनो जन्तो ।
वितीर्णपरलोकस्य नास्ति पापम् अकार्यम् ॥१७६॥
न वै कदर्या देवलोक व्रजन्ति बाला ह वै न प्रशसन्ति दानम् ।
धीरश्च दानमनुमोदमान तेनैव स भवति सुखी परत्र ॥१७७॥

पृथिव्या एकराज्यात् स्वर्गस्य गमनाद् वा ।
सर्वलोकाधिपत्यात् स्रोतापत्तिफलं वरम् ॥१७८॥

[१४]

यस्य जितं नावजीयते जितमस्य न याति कश्चिल्लोके ।
तं बुद्धमनन्तगोचरम् अपदं केन पदेन नेष्यथ ॥१७९॥
यस्य जालिनी विषात्मिका तृष्णा नास्ति कुत्रचित् नेतुम् ।
तं बुद्धमनन्तगोचरम् अपदं केन पदेन नेष्यथ ॥१८०॥
ये ध्यानप्रसृता धीरा नैष्क्रम्योपशमे रताः ।
देवा अपि तेभ्यः स्पृहयन्ति सम्बुद्धेभ्यः स्मृतिमद्भ्यः ।
कृच्छ्रो मनुष्यप्रतिलाभः कृच्छ्रं मर्त्यानां जीवितम् ॥१८१॥
कृच्छ्रं सद्धर्मश्रवणं कृच्छ्रो बुद्धानामुत्पादः ॥१८२॥
सर्वपापस्याकरणं कुशलस्योपसम्पदा ।
स्वचित्तपर्यवदापनम् एतद् बुद्धानां शासनम् ॥१८३॥
क्षान्तिः परमं तपः तितिक्षा निर्वाणं परमं वदन्ति बुद्धाः ।
न हि प्रव्रजितः परोपघाती श्रमणो भवति परं विहेठयन् ॥१८४॥
अनुपवादोऽनुपघातः प्रातिमोक्षे च संवरः ।
मात्राज्ञता च भक्ते प्रान्ते च शयनासनम् ।
अधिचित्ते च आयोग एतद् बुद्धानां शासनम् ॥१८५॥
न कार्षापणवर्षेण तृप्तिः कामेषु विद्यते ।
अल्पस्वादा दुःखाः कामा इति विज्ञाय पण्डितः ॥१८६॥
अपि दिव्येषु कामेषु रतिं स नाधिगच्छति ।
तृष्णाक्षयरतो भवति सम्यक्सम्बुद्धश्रावकः ॥१८७॥
बहु वै शरणं यन्ति पर्वतान् वनानि च ।
आरामवृक्षचैत्यानि मनुष्या भयतर्जिताः ॥१८८॥
नैतत् खलु शरणं क्षेमं नैतत् शरणमुत्तमम् ।
नैतत् शरणमागम्य सर्वदुःखात् प्रमुच्यते ॥१८९॥
यश्च बुद्धञ्च धर्मञ्च सङ्घञ्च शरणं गतः ।
चत्वारि आर्यसत्यानि सम्यक् प्रज्ञया पश्यति ॥१९०॥

दु ख दु खसमुत्पाद दु खस्य चातिक्रमम् ।
आर्यम् अष्टाङ्गिक मार्ग दु खोपशमगामिनम् ॥१९१॥
एतत् खलु शरणं क्षेमम् एतत् शरणमुत्तमम् ।
एतत् शरणमागम्य सर्वदु खात् प्रमुच्यते ॥१९२॥
दुर्लभ पुरुषाजन्यो न स सर्वत्र जायते ।
यत्र स जायते धीर तत्कुल सुखमेधते ॥१९३॥
सुखो बुद्धानामुत्पाद सुखा सद्धर्मदेशना ।
सुखा सघस्य सामग्री समग्राणा तप: सुखम् ॥१९४॥
पूजार्हान् पूजयतो बुद्धान् यदि वा श्रावकान् ।
प्रपञ्चममतिक्रान्तान् तीर्णशोकपरिद्रवान् ॥१९५॥
तान् तादृशान् पूजयतो निर्वृतान् अकुतोभयान् ।
न शक्य पुण्य सख्यातुम् इयन्मात्रमपि केनचि त् ॥१९६॥

[१५]

सुसुख बत जीवाम वैरिषु अवैरिण ।
वैरिषु मनुष्येषु विहरामोऽवैरिण ॥१९७॥
सुसुख बत जीवाम आतुरेषु अनातुरा ।
आतुरेषु मनुष्येषु विहरामोऽनातुरा: ॥१९८॥
सुसुख बत जीवाम उत्सुकेषु अनुत्सुका ।
उत्सुकेषु मनुष्येषु विहरामोऽनु सुका ॥१९९॥
सुसुख बत जीवाम येषा नो नास्ति किञ्चन ।
प्रीतिभक्षा भविष्याम देवा आभास्वरा यथा ॥२००॥
जयो वैर प्रसूते दु ख शेते पराजित ।
उपशान्त सुख शेते हित्वा जयपराजयौ ॥२०१॥
नास्ति रागसमोऽग्निर्नास्ति द्वेषसम कलि ।
न सन्ति स्कन्धसदृशा दु खा नास्ति शान्तिपर सुखम् ॥२०२॥
जिघत्सा परमो रोग: सस्कारा परमा दु खा ।
एतद् ज्ञात्वा यथाभूत निर्वाण परम सुखम् ॥२०३॥
आरोग्य परमो लाभ सन्तुष्टि परम धनम् ।
रमा ज्ञाति. निर्वाण परम सुखम् ॥२०४॥

प्रविवेक रस पीत्वा रसम् उपशमस्य च ।
निर्दरो भवति निष्पापो धर्मप्रीति रस पिबन् ॥२०५॥
साधु दर्शनम् आर्याणाम् सन्निवास सदा सुखः ।
अदर्शनेन बालानां नित्यमेव सुखी स्यात् ॥२०६॥
बालसङ्गतिचारी हि दीर्घमध्वान शोचति ।
दुःखो बालै संवास. अमित्रेणेव सर्वदा ।
धीरश्च सुखसंवासः ज्ञातीनामिव समागम ॥२०७॥
धीरश्च प्राज्ञश्च बहुश्रुतश्च धौरेयशील व्रतवन्तमार्यम् ।
त तादृश सत्पुरुष सुमेध भजेत नक्षत्रपथमिव चन्द्रमाः ॥२०८॥

(१६)

अयोगे युञ्जन् आत्मान योगे च अयोजयन् ।
अर्थ हित्वा प्रियग्राही स्पृहयेद् आत्मानुयोगिनम् ॥२०९॥
मा प्रियैः समागच्छत, अप्रियैः कदाचन ।
प्रियाणाम् अदर्शन दुःखम् अप्रियाणां च दर्शनम् ॥२१०॥
तस्माद् प्रिय न कुर्याद् प्रियापायो हि पापकः ।
ग्रन्थास्तेषां न विद्यन्ते येषां नास्ति प्रियाप्रियम् ॥२११॥
प्रियतो जायते शोक प्रियतो जायते भयम् ।
प्रियतो विप्रमुक्तस्य नास्तिशोकः कुतो भयम् ॥२१२॥
प्रेमतो जायते शोक. प्रेमतो जायते भयम् ।
प्रेमतो विप्रमुक्तस्य नास्ति शोक कुतो भयम् ॥२१३॥
रत्या जायते शोक रत्याः जायते भयम् ।
रत्या विप्रमुक्तस्य नास्ति शोक कुतो भयम् ॥२१४॥
कामतो जायते शोक, कामतो जायते भयम् ।
कामतो विप्रमुक्तस्य नास्ति शोक कुतो भयम् ।२१५॥
तृष्णाया जायते शोकः तृष्णाया जायते भयम् ।
तृष्णाया विप्रमुक्तस्य नास्ति शोक कुतो भयम् ॥२१६॥
शीलदर्शनसम्पन्न धर्मिष्ठ सत्यवादिनम् ।
आत्मन कर्म कुर्वाण त जन कुरुते प्रियम् ॥२१७॥

छन्दजातोऽनाख्याते मनसा च स्फुट: स्यात् ।
कामेषु च अप्रतिबद्धचित्तो ऊर्ध्वंस्रोता इत्युच्यते ॥२१८॥
चिरप्रवासिन पुरुष दूरत स्वस्थमागतम् ।
ज्ञातिमित्राणि सुहृदश्च अभिनन्दन्ति आगतम् ॥२१९॥
तथैव कृतपुण्यमपि अस्माल्लोकात् पर गतम् ।
पुण्यानि प्रतिगृह्णन्ति प्रिय ज्ञातिमिवागतम् ॥२२०॥

(१७)

क्रोध जह्याद् विप्रजह्यात् मान सयोजन सर्वमातिक्रमेत्वम् ।
त नामरूपयोरसज्यमानम् अकिंचन नानुपतन्ति दुःखानि ॥२२१
यो वै उत्पतित क्रोध रथ भ्रान्तमिव धारयेत् ।
तमह सारथि ब्रवीमि रश्मिग्राह इतरो जन ॥२२२॥
अक्रोधेन जयेत् क्रोधमसाधु साधुना जयेत् ।
जयेत्कदर्यं दानेन सत्येनालीकवादिनम् ॥२२३॥
सत्य भणेत् न क्रुध्येत् दद्याद् अल्पमपि याचित ।
एतै. त्रिभि: स्थानै गच्छेद् देवानामन्तिके ॥२२४॥
अहिंसका ये मुनयो नित्य कायेन सवृता:
ते यन्ति अच्युत स्थान यत्र गत्वा न शोचन्ति ॥२२५॥
सदा जाग्रताम् अहोरात्रम् अनुशिक्षिणाम् ।
निर्वाणम् अधिमुक्तानाम् अस्त गच्छन्ति आस्रवा ॥२२६॥
एतत्पौराण अतुल ! नैतद् अद्यतनम् इव ।

सुजीव्यम् अह्रीकेण काकशूरेण ध्वंसिना ।
प्रस्कन्दिना प्रगल्भेन संक्लिष्टेन जीवितम् ॥२४४॥

ह्रीमता च दुर्जीवितं नित्यं शुचिगवेषिणा ।
अलीनेन अप्रगल्भेन शुद्धाजीवेन पश्यता ॥२४५॥

यः प्राणमतिपातयति मृषावादं च भाषते ।
लोके अदत्तमादत्ते परदारांश्च गच्छति ॥२४६॥

सुरामैरेयपानं च यो नरोऽनुयुनक्ति ।
इहैवमेष लोके मूलं खनति आत्मनः ॥२४७॥

एवं भो पुरुष जानीहि पापधर्मा असंयताः ।
मा त्वा लोभोऽधर्मश्च चिरं दुःखाय रन्धतु[1] ॥२४८॥

ददाति वै यथाश्रद्धं यथाप्रसादनं जनः ।
तत्र यो मूको भवति परेषां पानभोजने ।
न स दिवा वा रात्रौ वा समाधिमधिगच्छति ॥२४९॥

यस्य चैतत् समुच्छिन्नं मूलघात्यं समुद्धतम् ।
स वै दिवा वा रात्रौ वा समाधिमधिगच्छति ॥२५०॥

नास्ति रागसमोऽग्निर्नास्ति द्वेषसमो ग्रहः ।
नास्ति मोहसमं जालम् नास्ति तृष्णासमा नदी ॥२५१॥

सुदर्शं वद्यमन्येषाम् आत्मनः पुनर्दुर्दर्शम् ।
परेषां हि स वद्यानि अवपुनाति यथा बुसम् ।
आत्मनः पुनश्छादयति कलिमिव कितवात् शठ ॥२५२॥

परवद्यानुपश्यतो नित्यमवध्यानसंज्ञिनः ।
आस्रवास्तस्य वर्धन्ते आरात् स आस्रवक्षयात् ॥२५३॥

आकाशे इव पदं नास्ति श्रमणो नास्ति बाह्यतः ।
प्रपञ्चाभिरताः प्रजाः निष्प्रपञ्चास्तथागताः ॥२५४॥

पापानि परिवर्जयति स मुनिस्तेन स मुनिः ।
यो मनुते उभौ लोकौ मुनिस्तेन प्रोच्यते ॥२६९॥

न तेनार्यो भवति येन प्राणान् हिनस्ति ।
अहिंसा सर्वप्राणानाम् आर्य इति प्रोच्यते ॥२७०॥

न शीलव्रतमात्रेण बाहुश्रुत्येन वा पुनः ।
अथवा समाधिलाभेन विविक्तशयनेन वा ॥२७१॥

स्पृशामि नैष्कर्म्यसुखम् अपृथग्जन सेवितम् ।
भिक्षो विश्वासं मा पादीः अप्राप्त आस्रवक्षयम् ॥२७२॥

[२०]

मार्गाणाम् अष्टांगिकः श्रेष्ठः सत्यानां चत्वारि पदानि ।
विरागः श्रेष्ठो धर्माणां द्विपदानां च चक्षुष्मान् ॥२७३॥

एष एव मार्गो नास्त्यन्यो दर्शनस्य विशुद्धये ।
एतं हि यूयं प्रतिपद्यध्वं मारस्यैतत् प्रमोहनम् ॥२७४॥

एतं हि यूयं प्रतिपन्ना दुःखस्यान्तं करिष्यथ ।
आख्यातो वै मया मार्ग आज्ञाय शल्यसंस्थानम् ॥२७५॥

युष्माभिः कार्यमातप्यम् आख्यातारः तथागताः ।
प्रतिपन्ना प्रमोक्ष्यन्ते ध्यायिनो मारबन्धनात् ॥२७६॥

सर्वे संस्कारा अनित्या इति यदा प्रज्ञया पश्यति ।
अथ निर्विन्दति दुःखानि एष मार्गो विशुद्धये ॥२७७॥

सर्वे संस्कारा दुःखा इति यदा प्रज्ञया पश्यति ।
अथ निर्विन्दति दुःखानि एष मार्गो विशुद्धये ॥२७८॥

सर्वे धर्मा अनात्मान इति यदा प्रज्ञया पश्यति ।
अथ निर्विन्दति दुःखानि एष मार्गो विशुद्धये ॥२७९॥

उत्थानकालेऽनुत्तिष्ठन् युवा बली आलस्यमुपेतः ।
समवसन्नसंकल्पमनाः कुसीदः प्रज्ञया मार्गमलसो न विन्दति ॥२८०॥

वाचानुरक्षी मनसा सुसंवृतः कायेन चाकुशलं न कुर्यात् ।
एतान् त्रीन् कर्मपथान् विशोधयेत् आराधयेद् मार्गमृषिप्रवेदितम् ॥२८१॥

मातर पितर हत्वा राजानौ द्वौ च क्षत्रियौ ।
राष्ट्र सानुचर हत्वा अनघो याति ब्राह्मण ॥२६४॥
मातर पितर हत्वा राजानौ द्वौ च श्रोत्रियौ ।
व्याघ्र च पचम हत्वा अनघो याति ब्राह्मण ॥२६५॥
सुप्रबुद्धा प्रबुध्यते सदा गौतमश्रावका ।
येषा दिवा च रात्रौ च नित्य बुद्धगतास्मृति ॥२६६॥
सुप्रबुद्धा प्रबुध्यन्ते सदा गौतमश्रावका ।
येषा दिवा च रात्रौ च नित्य धर्मगतास्मृति. ॥२६७॥
सुप्रबुद्धा प्रबुध्यन्ते सदा गौतमश्रावका ।
येषा दिवा च रात्रौ च नित्य सघगतास्मृति ॥२६८॥
सुप्रबुद्धा प्रबुध्यन्ते सदा गौतमश्रावका ।
येषा दिवा च रात्रौ च नित्य कायगतास्मृति ॥२६९॥
सुप्रबुद्धा प्रबुध्यन्ते सदा गौतमश्रावका: ।
येषा दिवा च रात्रौ च अहिसाया रत मन: ॥३००॥
सुप्रबुद्धा: प्रबुध्यन्ते सदा गौतमश्रावका. ।
येषा दिवा च रात्रौ च भावनाया रत मन' ॥३०१॥
दुष्प्रव्रज्य दुरभिराम दुरावास गृह दु खम् ।
दु खोऽसमानसवासो दु खानुपतितोऽध्वग ।
तस्माच्च चाध्वग: स्यान्न च दु खानुपतित: स्यात् ॥३०२॥
श्रद्धाशीलेनसम्पन्नो यशोभोगसमर्पित: ।
य य प्रदेश भजते तत्र तत्रैव पूजित: ॥३०३॥
दूरे सन्त' प्रकाशन्ते हिमवन्त इव पर्वता. ।
असन्तोऽत्र न दृश्यन्ते रात्रि क्षिप्ता यथा शरा: ॥ ०४॥
एकासन: एकशय्य: एकश्चरन् अतन्द्रित: ।
एको दमयन् आत्मान वनान्ते रत: स्यात् ॥३०५॥

[२२]

अभूतवादी निरयमुपैति यो वापि कृत्वा न करोमि चाह ।
उभावपि तौ प्रेत्य समौ भवतो निहीनकर्माणौ मनुजौ परत्र ॥३०६॥

काषायकण्ठा बहवः पापधर्मा असंयताः ।
पापाः पापैः कर्मभिर्निरयं त उपपेदिरे ॥३०७॥
श्रेयान् अयोगुडो भुक्तस्तप्तोऽग्निशिखोपमः ।
यच्चेद् भुञ्जीत दुःशीलो राष्ट्रपिण्डम् असंयतः ॥३०८॥
चत्वारि स्थानानि नरः प्रमत्तः आपद्यते परदारोपसेवी ।
अपुण्यलाभं न निकामशय्या निन्दा तृतीया निरयं चतुर्थम् ॥३०९॥
अपुण्यलाभश्च गतिश्च पापिका भीतस्य भीतया रतिश्च स्तोकिका ।
राजा च दण्डं गुरुकं प्रणयति तस्मान्नरः परदारान्न सेवेत ॥३१०॥
कुशो यथा दुर्गृहीतो हस्तमेवानुकृन्तति ।
श्रामण्यं दुष्परामृष्टं निरयायोपकर्षति ॥३११॥
यत्किञ्चिद् शिथिलं कर्म संक्लिष्टं च यद् व्रतम् ।
शङ्कास्मरं ब्रह्मचर्यं न तद् भवति महत्फलम् ॥३१२॥
कुर्याच्चेत् कुर्वीतैतद् दृढमेतत् पराक्रमेत ।
शिथिलो हि परिव्राजको भूय आकिरते रजः ॥३१३॥
अकृतं दुष्कृतं श्रेयः पश्चात् तपति दुष्कृतम् ।
कृतं च सुकृतं श्रेयो यत्कृत्वा नानुतप्यति ॥३१४॥
नगरं यथा प्रत्यन्तं गुप्तं सान्तर्बहिम् ।
एवं गोपयेदात्मानं क्षणो वै मा उपातिगात् ।
क्षणातीता हि शोचन्ति निरये समर्पिताः ॥३१५॥
अलज्जितव्ये लज्जन्ते लज्जितव्ये न लज्जिताः ।
मिथ्यादृष्टिसमादानाः सत्त्वा गच्छन्ति दुर्गतिम् ॥३१६॥
अभये भयदर्शिनो भये चाभयदर्शिनः ।
मिथ्यादृष्टिसमादानाः सत्त्वा गच्छन्ति दुर्गतिम् ॥३१७॥
अवर्ज्ये वर्ज्यमतयो वर्ज्ये चावर्ज्यदर्शिनः ।
मिथ्यादृष्टिसमादानाः सत्त्वा गच्छन्ति दुर्गतिम् ॥३१८॥
वर्ज्यं च वर्ज्यतो ज्ञात्वा अवर्ज्यं चावर्ज्यतः ।
सम्यग्दृष्टिसमादानाः सत्त्वा गच्छन्ति सुगतिम् ॥३१९॥
अहं नाग इव संग्रामे चापतः पतितं शरम् ।
अतिवाक्यं तितिक्षिष्ये दुःशीलो हि बहुः जनः ॥३२०॥

दान्तं नयन्ति समितिं दान्तं राजाभिरोहति ।
दान्तः श्रेष्ठो मनुष्येषु योऽतिवाक्यं तितिक्षते ॥३२१॥
वरं अश्वतरा दान्ता आजानेयाश्च सैन्धवाः ।
कुञ्जराश्च महानागा आत्मदान्तस्ततो वरम् ॥३२२॥
न हि एतैर्यानैः गच्छेद् अगता दिशम ।
यथात्मना सुदान्तेन दान्तो दान्तेन गच्छति ॥३२३॥
धनपालको नाम कुंजरः कटुकप्रभेदनो दुर्निवार्य ।
बद्ध कवलं न भुङ्क्ते स्मरति नागवनस्य कुंजरः ॥३२४॥
मृद्धो यदा भवति महाघसश्च निद्रायितः सपरिवर्तशायी ।
महावराह इव निवापपुष्ट पुन. पुन गर्भमुपैति मन्दः ॥३२५॥
इद पुरा चित्तमचरच्चारिका यथेच्छ यथाकाम यथासुखम् ।
तदद्याहं निग्रहीष्यामि योनिशो हस्तिनं प्रभिन्नमिवाङ्कुशग्राह ॥३२६॥
अप्रमादरता भवत स्वचित्तमनुरक्षत ।
दुर्गाद् उद्धरतात्मानं पङ्के सक्त इव कुंजर ॥३२७॥
स चेत् लभेत निपक्कं सहायं सार्धं चरं साधुविहारिधीरम् ।
अभिभूय सर्वान् परिश्रयान् चरेत् तेनात्तमनाः स्मृतिमान् ॥३२८॥
न चेत् लभेत निपक्क सहायं सार्धं चरं साधुविहारिधीरम् ।
राजेव राष्ट्रं विजितं प्रहाय एकश्चरेन्मातंगोऽरण्य इव नागः ॥३२९॥
एकस्य चरितं श्रेयो नास्ति बाले सहायता ।
एकश्चरेन्न च पापानि कुर्यात् अल्पोत्सुको मातंगोऽरण्य इव नाग. ॥३३०॥
अर्थे जाते सुखा सहायास्तुष्टिः सुखा या इतरेतरेण ।
पुण्य सुखं जीवितसंक्षये सर्वस्य दुःखस्य सुखं प्रहाणम् ॥
सुखा मातृयता लोकेऽथ पितृयता सुखा ।
सुखा श्रामण्यता लोकेऽथ ब्रह्मण्यता सुखा ॥३३२॥
सुखं यावत् जरा शीलं सुखा श्रद्धा प्रतिष्ठिता ।
सुख प्रज्ञाया प्रतिलाभः पापानाम् अकरणं सुखम् ॥३३३॥

[२४]

मनुजस्य प्रमत्तचारिणस्तृष्णा वर्धते मालुवेव ।
स प्लवतेऽहरह फलमिच्छन् इव वने वानर ॥३३४॥

यमषा साहयति जाल्मी तृष्णा लोके विषात्मिका ।
शोकास्तस्य प्रवर्धन्तेऽभिवृद्धामिव बीरणम् ।।३३५।।
यश्चेतां साहयति जाल्मीं तृष्णां लोके दुरत्ययाम् ।
शोकास्तस्माद् प्रपतन्ति उदबिन्दुरिव पुष्करात् ।।३३६।।
तद् वो वदामि भद्र वो यावन्तोऽत्र समागता ।
तृष्णाया मूल खनत उशीरार्थीव बीरणम् ।
मा वो नलमिव स्रोत इव मारो भजतु पुन पुन ।।३३७।।
यथापि मूलेऽनुपद्रवे दृढे छिन्नोऽपि वृक्ष पुनरेव रोहति ।
एवमपि तृष्णानुशयेऽनिहते निवर्तते दु खमिद पुन पुन ।।३३८।।
यस्य षट्त्रिंशत् स्रोतासि मन प्रस्रवणानि भृशम् ।
वाहा वहन्ति दुर्दृष्टि सकल्पा रागान मृता ।।३३९।।
स्रवन्ति सर्वत स्रोतासि लतोद्भिद्य तिष्ठति ।
ता च दृष्ट्वा लता जाता मूल प्रज्ञया छिन्दत ।।३४०।।
सरित स्निग्धाश्च सौमनस्य भवन्ति जन्तो ।
ते स्रात मृता सुखैषिणस्ते वै जातिजरोपगा नरा ।।३४१।।
तृष्णया पुरस्कृता प्रजा परिसर्पन्ति शश इव बाधित ।
सयोजनससक्तका दु खमुपयन्ति पुन पुन चिराय ।।३४२।।
तृष्णया पुरस्कृता प्रजा परिसर्पन्ति शश इव बाधित ।
तस्मात् तृष्णा विनोदयेद् अकाक्षी विरागमात्मन ।।३४३।।
यो निर्वनथो वनेऽधिमुक्तो वनमुक्तो वनमेव धावति ।
त पुद्गलमेव पश्यत मुक्तो बन्धनमेव धावति ।।३४४।।
न तद् दृढ बन्धनमाहुर्धीरा यदायस दारुज पल्वजञ्च ।
सारवद् रक्ता मणिकुण्डलेषु पुत्रेषु दारेषु च या अपेक्षा ।।३४५।।
एतद् दृढ बन्धनमाहुर्धीरा अपहारि शिथिल दुष्प्रमोचम् ।
एतदपि छित्त्वा परिव्रजन्ति अनपेक्षिण काममुख प्रहाय ।।३४६।।
य रागरक्ता अनुपतन्ति स्रोत स्वय कृत मर्कटक इव जालम् ।
एतदपि छित्त्वानुव्रजन्ति धीरा अनपेक्षिण सर्वदु ख प्रहाय ।।३४७।।
मुञ्च पुरो मुञ्च पश्चात् मध्ये मुञ्च भवस्य पारग ।
सर्वत्र विमुक्तमानसो न पुन जातिजरामुपेष्यसि ।।३४८।।

वितर्कप्रमथितस्य जन्तोः तीव्ररागस्य शुभानुपश्यत ।
भूयस्तृष्णा प्रवर्धते एष खलु दृढ करोति बन्धनम् ॥३४९॥
वितर्कोपशमे च यो रत: अशुभ भावयते सदा स्मृत: ।
एष खलु व्यन्तीकरिष्यति एष छेत्स्यति मारबन्धनम् ॥३५०॥
निष्ठा गतोऽसन्त्रासी वीततृष्णोऽनङ्गण: ।
अच्छिनद् भवशल्यानि अन्तिमोऽय समुच्छ्रय ॥३५१॥
वीततृष्णोऽनादानो निरुक्तिपदकोविद ।
अक्षराणां सन्निपात जानाति पूर्वापराणि च ।
स वै अन्तिमशारीरो महाप्राज्ञो महापुरुष इत्युच्यते ॥३५२॥
सर्वाभिभू सर्वविदहमस्मि सर्वेषु धर्मेष्वनुपलिप्त ।
सर्वञ्जहस्तृष्णाक्षये विमुक्त स्वयमभिज्ञाय कमुद्दिशेयम् ॥३५३॥
सर्वदान धर्मदान जयति सर्वरस धर्मरसो जयति ।
सर्वरति धर्मरतिर्जयति तृष्णाक्षय: सर्वदु:ख जयति ॥३५४॥
घ्नन्ति भोगा दुर्मेधस न चेत् पारगवेषिण ।
भोगतृष्णया दुर्मेधा हन्त्यन्यमिवात्मानम् ॥३५५॥
तृणदोषाणि क्षेत्राणि रागदोषेय प्रजा ।
तस्माद् हि वीतरागेषु दत्त भवति महत्फलम् ॥३५६॥
तृणदोषाणि क्षेत्राणि द्वेषदोषेय प्रजा ।
तस्माद् हि वीतद्वेषेषु दत्त भवति महत्फलम् ॥३५ ॥
तृणदोषाणि क्षेत्राणि मोहदोषेय प्रजा ।
तस्माद् हि वीतमोहेषु दत्त भवति महत्फलम् ॥३५८॥
तृणदोषाणि क्षेत्राणि इच्छादोषेय प्रजा ।
तस्माद् हि विगतेच्छेषु दत्त भवति महत्फलम् ॥३५९॥

[२५]

चक्षुषा सवर साधु साधु श्रोत्रेण सवर ।
घ्राणेन सवर साधु साधु जिह्वया सवर: ॥३६०॥
कायेन सवर साधु साधु वाचा सवर ।
मनसा सवर साधु: साधु: सर्वत्र सवर: ।
सर्वत्र सवृतो भिक्षु सर्वदु:खात् प्रमुच्यते ॥३६१॥

हस्तसंयत पादसंयतो वाचा संयत संयतोत्तम ।
अध्यात्मरत समाहित एक सन्तुष्टस्तमाहुर्भिक्षुम् ॥३६२॥
यो मुखसंयतो भिक्षुः मन्त्रभाणी अनुद्धत ।
अर्थं धर्मं च दीपयति मधुर तस्य भाषितुम् ॥३६३॥
धर्मारामो धर्मरतो धर्ममनुविचिन्तयन् ।
धर्ममनुस्मरन् भिक्षु सद्धर्मान परिहीयते ॥३६४॥
स्वलाभ नातिमन्येत नान्येभ्य स्पृहयन् चरेत् ।
अन्येभ्य स्पृहयन् भिक्षु समाधि नाधिगच्छति ॥३६५॥
अल्पलाभोऽपि चेद् भिक्षु स्वलाभ नातिमन्यते ।
त वै देवा प्रशंसन्ति शुद्धाजीवम् अतन्द्रितम् ॥३६६॥
सर्वशो नामरूपयो यस्य नास्ति ममायितम् ।
असति च न शोचति स वै भिक्षुरित्युच्यते ॥३६७॥
मैत्रीविहारी यो भिक्षु प्रसन्न बुद्धशासने ।
अधिगच्छेत् पद शान्त सस्कारोपशम सुखम् ॥३६८॥
सिञ्च भिक्षो ! इमा नाव सिक्ता ते लघुत्वमेष्यति ।
छित्त्वा रागश्च द्वेषश्च ततो निर्वाणमेष्यसि ॥३६९॥
पञ्च छिन्द्यात् पञ्च जह्यात् पञ्चोत्तरं भावयेत् ।
पञ्चसगातिगो भिक्षु ओघतीर्ण इत्युच्यते ॥३७०॥
ध्याय भिक्षो ! मा प्रमाद मा ते कामगुणे रमतु चित्तम् ।
मा लोहगोल गिल प्रमत्त मा क्रन्दी दु खमिदमिति दह्यमान ॥३७१॥
नास्ति ध्यानमप्रज्ञस्य प्रज्ञा नास्ति अध्यायतः ।
यस्मिन् ध्यान च प्रज्ञा च स वै निर्वाणस्यान्तिके ॥३७२॥
शून्यागार प्रविष्टस्य शान्तचित्तस्य भिक्षो ।
अमानुषी रतिर्भवति सम्यग् धर्मं विपश्यतः ॥३७३॥
यतो यतः सम्मृशति स्कन्धानामुदयव्ययम् ।
लभते प्रीतिप्रामोद्यम् अमृत तद् विजानताम् ॥३७४॥
तत्रायमादिर्भवतीह प्राज्ञस्य भिक्षोः ।
इन्द्रियगुप्ति सन्तुष्टि प्रातिमोक्षे च सवर ॥३७५॥

मित्राणि भजस्व कल्याणानि शुद्धाजीवान्यतन्द्रितानि ।
प्रति सस्तारवृत्त स्याद् आचारकुशल स्यात् ।
तत प्रामोद्यबहुलो दु खस्यान्त करिष्यति ॥३७६॥
वार्षिका इव पुष्पाणि मादवानि प्रमुञ्चति ।
एव रागञ्च द्वेषञ्च विप्रमुञ्चत भिक्षव ॥३७७॥
शान्तकायो शान्तवाक् शान्तवान् सुसमाहित ।
वान्तलोकामिषो भिक्षु उपशान्त इत्युच्यते ॥३७८॥
आत्मना चोदयेद् आत्मान प्रतिवसेद् आत्मानमात्मना ।
स आत्मगुप्त स्मृतिमान् सुख भिक्षो विहरिष्यसि ॥३७९॥
आत्मा हि आत्मनो नाथ आत्मा हि आत्मनो गति ।
तस्माद् सयमयात्मानम् अश्व भद्रमिव वाणिज ॥३८०॥
प्रामोद्यबहुलो भिक्षु प्रसन्नो बुद्धशासने ।
अधिगच्छेत् पद शान्ति सस्कारोपशम सुखम् ॥३८१॥
यो ह वै दहरो भिक्षु युनक्ति बुद्धशासने ।
स इम लोक प्रभासयत्यभ्रात् मुक्त इव चन्द्रमा ॥३८२॥

(२६)

छिन्धि स्रोत पराक्रम्य कामान् प्रणुद ब्राह्मण ।
सस्काराणा क्षय ज्ञात्वाऽकृतज्ञोऽसि ब्राह्मण ॥३८३॥
यदा द्वयोर्धर्मयो पारगो भवति ब्राह्मण ।
अथास्य सर्वे सयोगा अस्त गच्छन्ति जानत ॥३८४॥
यस्य परम् अपार वा पारापार न विद्यते ।
वीतदर विसयुक्त तमह ब्रवीमि ब्राह्मणम् ॥३८५॥
ध्यायिन विरजमासीन कृतकृत्यमनास्रवम् ।
उत्तमार्थमनुप्राप्त तमह ब्रवीमि ब्राह्मणम् । ३८६॥
दिवा तपति आदित्यो रात्रौ आभाति चन्द्रमा ।
सन्नद्ध क्षत्रियस्तपति ध्यायी तपति ब्राह्मण ।
अथ सर्वमहोरात्र बुद्धस्तपति तेजसा ॥३८७॥
वाहितपाप इतिब्राह्मण समचर्य श्रमण इत्युच्यते ।
प्रव्राजयन् आत्मनो मल तस्मात् प्रव्रजित इत्युच्यते ॥३८८॥

न ब्राह्मण प्रहरेद् नास्मै मुञ्चेद् ब्राह्मण ।
धिग् ब्राह्मणस्य हन्तार ततो धिग् यस्मै मुञ्चति ॥३८९॥

न ब्राह्मणस्यैतदकिंचित् श्रेय यदा निषेधो मनसा प्रियेभ्य: ।
यतो यतो हिंसमनो निवर्तते ततस्तत: शाम्यति एव दुःखम् ॥३९०॥

यस्य कायेन वाचा मनसा नास्ति दुष्कृतम् ।
संवृतं त्रिभि स्थानैस्तमह ब्रवीमि ब्राह्मणम् ॥३९१॥

यस्माद् धर्म विजानीयात् सम्यक् सम्बुद्धदेशितम् ।
सत्कृत्य त नमस्येद् अग्निहोत्रमिव ब्राह्मण: ॥३९२॥

न जटाभिर्न गोत्रेण न जात्या भवति ब्राह्मण ।
यस्मिन् सत्य च धर्मश्च स शुचि स च ब्राह्मण: ॥३९३॥

किं ते जटाभि: दुर्मेध ! किं ते अजिनशाट्या ।
अभ्यन्तर ते गहन बाह्य परिमार्जयसि ॥३९४॥
पाशुकूलधर जन्तु कृश धमनिसन्ततम् ।
एक वने ध्यायन्त तमह ब्रवीमि ब्राह्मणम् ॥३९५॥
न चाह ब्राह्मण ब्रवीमि योनिज मातृसम्भवम् ।
भोवादी नाम स भवति स वै भवति स किञ्चन ।
अकिञ्चनमनादान तमह ब्रवीमि ब्राह्मणम् ॥३९६॥
सर्वसयोजनं छित्वा यो वै न परित्रस्यति ।
सङ्गातिग विसयुक्त तमह ब्रवीमि ब्राह्मणम् ॥३९७॥
छित्वा नन्दि वरत्रा च सन्दान सहनुक्रमम् ।
उत्क्षिप्तपरिघ बुद्ध तमह ब्रवीमि ब्राह्मणम् ॥३९८॥
आक्रोशं वधबन्धञ्च अदुष्टो यस्तितिक्षति ।
क्षान्तिबल बलानीक तमह ब्रवीमि ब्राह्मणम् ॥३९९॥
अक्रोधन व्रतवन्त शीलवन्तमनुश्रुतम् ।
दान्तम् अन्तिमशारीर तमह ब्रवीमि ब्राह्मणम् ॥४००॥
वारि पुष्करपत्र इव आराग्रे इव सर्षप ।
यो न लिप्यते कामेषु तमह ब्रवीमि ब्राह्मणम् ॥४०१॥

यो दु खस्य प्रजानाति इहैव क्षयमात्मन. ।
पन्नभार विसयुक्त तमह ब्रवीमि ब्राह्मणम् ।।४०२।।
गम्भीरप्रज्ञ मेधाविन मार्गामार्गस्य कोविदम् ।
उत्तमार्थम् अनुप्राप्त तमह ब्रवीमि ब्राह्मणम् ।।४०३।।
असंसृष्टं गृहस्थै अनागारैश्चोभाभ्याम् ।
अनोक सारिणम् अल्पेच्छ तमह ब्रवीमि ब्राह्मणम् ।।४०४।।
निधाय दण्ड भूतेषु त्रसेषु स्थावरेषु च ।
यो न हन्ति न घातयति तमह ब्रवीमि ब्राह्मणम् ।।४०५।।
अविरुद्ध विरुद्धेषु आत्तदण्डेषु निर्वृतम् ।
सादानेषु अनादान तमह ब्रवीमि ब्राह्मणम् ।।४०६।।
यस्य रागश्च द्वेषश्च मानो म्रक्षश्च पातित ।
सर्षप इवाराग्रात् तमह ब्रवीमि ब्राह्मणम् ।।४०७।।
अकर्कशा विज्ञापनी गिर सत्यामुदीरयेत् ।
यया नाभिषजेत् किञ्चित् तमह ब्रवीमि ब्राह्मणम् ।।४०८।।
य इह दीर्घ वा ह्रस्व वाणु स्थूलं शुभाशुभम् ।
लोकेऽदत्त नादत्ते तमह ब्रवीमि ब्राह्मणम् ।४०९।।
आशा यस्य न विद्यन्तेऽस्मिन् लोके परत्र च ।
निराशय विसयुक्तं तमह ब्रवीमि ब्राह्मणम् ।।४१०।।
यस्यालया न विद्यन्ते आज्ञाय अकथ कथी ।
अमृतागाधम् अनुप्राप्त तमह ब्रवीमि ब्राह्मणम् ।।४११।।
य इह पुण्य च पाप चोभयो सगम् उपात्यगात् ।
अशोक विरज शुद्ध तमह ब्रवीमि ब्राह्मणम् ।।४१२।।
चन्द्रमिव विमल शुद्ध विप्रसन्नम् अनाविलम् ।
नन्दीभव परिक्षीण तमह ब्रवीमि ब्राह्मणम् ।।४१३।।
य इम प्रतिपथ दुर्ग ससार मोहमत्यगात् ।
तीर्ण पारगतो ध्याय्यनेजोऽकथ कथी ।
अनुपादाय निर्वृत तमह ब्रवीमि ब्राह्मणम् ।।४१४।।
य इह कामान् प्रहाय अनागार परिव्रजेत् ।

कामभवपरिक्षीण तमहं ब्रवीमि ब्राह्मणम् ॥४१५॥
य इह तृष्णा प्रहाय अनागारः परिव्रजेत् ।
तृष्णाभवपरिक्षीण तमहं ब्रवीमि ब्राह्मणम् ॥४१६॥
हित्वा मानुषिकं योगं दिव्यं योगमुपात्यगात् ।
सर्वयोगविसंयुक्तं तमहं ब्रवीमि ब्राह्मणम् ॥४१७॥
हित्वा रतिं च अरतिं च शीतीभूतं निरुपधिम् ।
सर्वलोकाभिभुवं वीरं तमहं ब्रवीमि ब्राह्मणम् ॥४१८॥
च्युतिं यो वेद सत्त्वानाम् उत्पत्तिश्च सर्वश ।
असक्तं सुगतं बुद्धं तमहं ब्रवीमि ब्राह्मणम् ॥४१९॥
यस्य गतिं न जानन्ति देवा गन्धर्वमानुषा ।
क्षीणास्रवमर्हन्तं तमहं ब्रवीमि ब्राह्मणम् ॥४२०॥
यस्य पुरश्च पश्चाच्च मध्ये च नास्ति किंचन ।
अकिंचनमनादानं तमहं ब्रवीमि ब्राह्मणम् ॥४२१॥
ऋषभं प्रवरं वीरं महर्षि विजितवन्तम् ।
अनेजं स्नातकं बुद्धं तमहं ब्रवीमि ब्राह्मणम् ॥४२२॥
पूर्वनिवासं यो वेद स्वर्गापायं च पश्यति ।
अथ जातिक्षयं प्राप्तोऽभिज्ञाव्यवसितो मुनि ।
सर्वव्यवसितव्यवसानं तमहं ब्रवीमि ब्राह्मणम् ॥४२३॥